# Aangan Mein Ek Vriksha Novel in Hindi

## By Dushyant Kumar
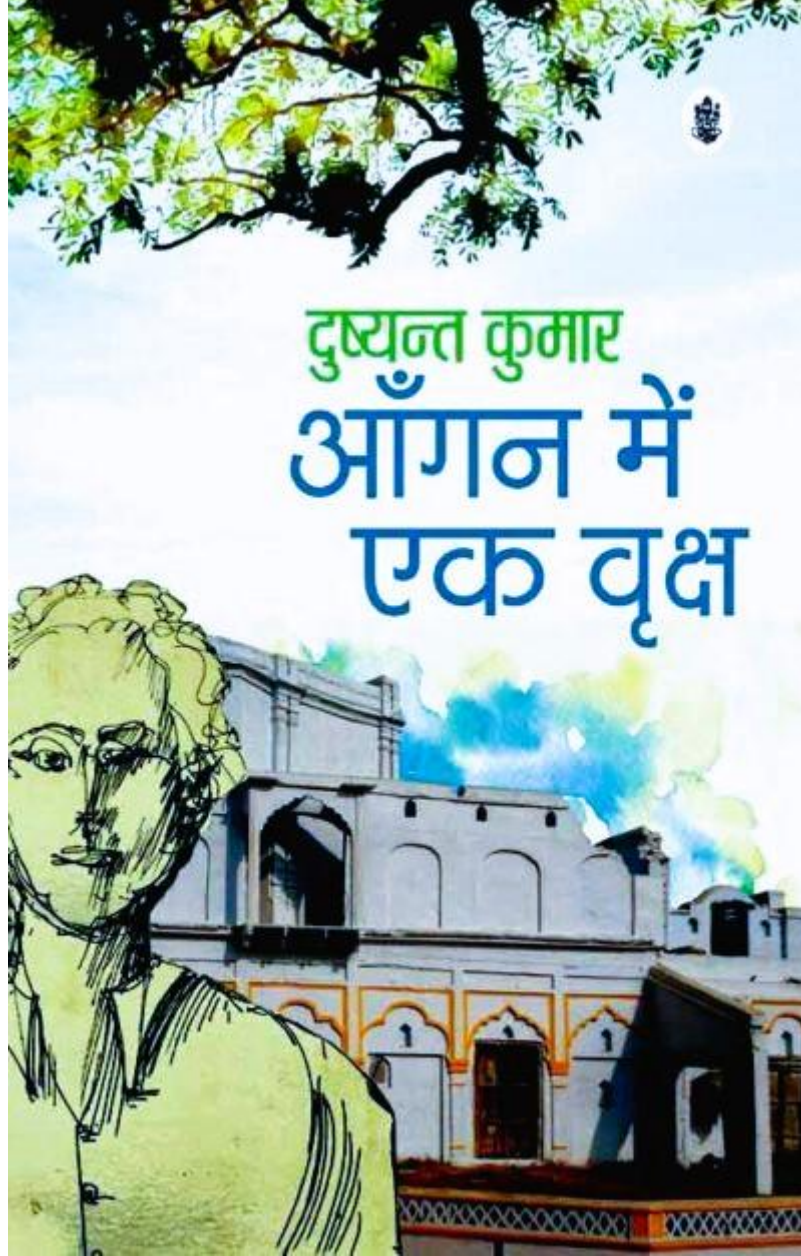
(दुष्यन्त कुमार ने बहुत-कुछ लिखा पर जिन अच्छी कृतियों से उनके रचनात्मक वैभव का पता चलता है, यह उपन्यास उनमें से एक है।

उपन्यास में एक सामन्ती परिवार और उसके परिवेश का चित्रण है। सामन्त जमीन और उससे मिलने वाली दौलत को कब्जे में रखने के लिए न केवल गरीब किसानों, अपने नौकर-चाकरों और स्त्रियों का शोषण और

उत्पीड़न करता है, बल्कि स्वयं को और जिन्हें वह प्यार करता है, उन्हें भी बर्बादी की तरफ ठेलता है, इसका यहाँ मार्मिक चित्रण किया गया है।

उपन्यास बड़ी शिद्दत से दिखाता है कि अन्ततः सामन्त भी मनुष्य ही होता है और उसकी भी अपनी मानवीय पीड़ाएँ होती हैं, पर अपने वर्गीय स्वार्थ और शोषकीय रुतबे को बनाए रखने की कोशिश में वह कितना अमानवीय होता चला जाता है, इसका खुद उसे भी अहसास नहीं होता।

उपन्यास के सारे चरित्र चाहे वह चन्दन, भैनाजी, माँ, पिताजी और मंडावली वाली भाभी हों या फिर मुंशीजी, यादराम, भिक्खन चमार आदि निचले वर्ग की हों सभी अपने परिवेश में पूरी जीवन्तता और ताजगी के साथ उभरते हैं। उपन्यासकार कुछ ही वाक्यों में उनके पूरे व्यक्तित्व को उकेरकर रख देता है। और अपनी परिणति में कथा पाठक को स्तब्ध तथा द्रवित कर जाती है। दुष्यन्त कुमार की भाषा के तेवर की बानगी यहाँ भी देखने को मिलती है—कहीं एक भी शब्द फालतू, न सुस्त।

अत्यन्त पठनीय तथा मार्मिक कथा-रचना।)

खंड : एक (आँगन में एक वृक्ष)
और इसी दिन का मुझे इन्तज़ार रहता। चन्दन भाई साहब आते तो मेरे लिए घर में नुमाइश-सी लग जाती। रंग-बिरंगे कपड़े, अजीबो-ग़रीब खिलौने, जापानी पिस्तौल और गोलियाँ और इनके अलावा खूबसूरत डिब्बों में बन्द टाफियाँ व चाकलेट और यह सबकुछ अकेले मेरे लिए।
माँ हमेशा उन्हें डाँटतीं, "चन्दन, तू इतने पैसे क्यों फूँकता है रे ?"

"कहाँ बीजी ! देखो, तुम्हारे लिए तो कुछ भी नहीं लाया इस बार।" भाई साहब बड़ी मधुर आवाज़ में, सहज मुस्कान होठों पर लाकर सफ़ाई देते। माँ बड़बड़ाती हुई रसोईघर में चली जाती और मैं भाई साहब के और पास सरक आता। मेरी तरफ़ मुख़ातिब होते हुए वे धीरे से मेरे कान में कहते, "बीजी से ज़िक्र मत करना, उनके लिए भी साड़ी लाया हूँ। जाते हुए दूँगा।" फिर अचानक गम्भीर होकर पूछते, "हाँ भई, क्या प्रोग्राम है आज का ?"

मैं प्रोग्राम का मतलब नहीं समझता था। केवल उनकी ओर प्यार और श्रद्धा से निहारता रहता। वे हँसकर मुझे अपने से चिपटा लेते और खुद ही समझाते, "तो फिर यह तय रहा कि दोपहर में म्यूज़िक, शाम को शिकार और रात में यादराम के हाथ के पराठे और तीतर ?"

मैं गरदन हिलाकर सहमति प्रकट करता और तत्काल मेरी आँखों में यादराम की गंजी चाँद और पराँठे बेलते समय उसकी कनपटियों पर बार-बार उभरती-गिरती नसों की मछलियाँ तैरने लगतीं।

यादराम भाई साहब का ख़ानसामा था। भाई साहब जब भी मुरादाबाद से आते, यादराम साथ ज़रूर आता। दोपहर का भोजन भाई साहब माँ के रसोईघर में बैठकर करते। मगर शाम को पिताजी और मैं दोनों ही उनके साथ यादराम के हाथ के पराँठे खाते। सिर्फ़ माँ अपनी रसोई अलग पकाती थीं।

"क्यों यादराम, तेरी चाँद के बाल कहाँ गए ?" मैं अक्सर यह सवाल उससे पूछा करता।
और यादराम हमेशा इसका एक जवाब देता, "बाबूजी के जूते चाट गए, लल्लू।"

माँ को यादराम एक आंख नहीं भाता था। शुरू-शुरू में उन्होंने मेरे वहाँ खाने का बड़ा विरोध किया। लेकिन कुछ तो मेरी अपनी ज़िद और कुछ भाई साहब के अनुनय-अनुरोध के सामने उन्हें झुक जाना पड़ा। मुझे खूब याद है कि स्वभाव से बहुत कठोर होने के बावजूद माँ भाई साहब की बात नहीं टालती थीं। यह और बात है कि उसके बाद भी वे मुझे लेकर बराबर भाई साहब और पिताजी, दोनों को यह ताना देती रहतीं कि उन्होंने 'छोटे' को भी म्लेच्छ बना दिया है।

गाँव में भाई साहब एक भूचाल की तरह आते थे और डेढ़-दो हज़ार आदमियों की उस छोटी-सी बस्ती में, हर जगह, हर क़दम पर अपने नक़्श और छाप छोड़ जाते थे। उनके जाने के बाद कई दिनों तक लोग

क़िस्से-कहानियों की तरह उन्हें याद करते रहते और अक्सर यही ज़िक्र हुआ करता, "देखो, कितना बड़ा आदमी है, मगर घमंड छू तक नहीं गया !"

भिक्खन चमार—जिसे भाई साहब 'मूविंग रेडियो स्टेशन' कहा करते थे, उनके चले जाने के बाद, अपने ठेठ क़िस्सागोई के अन्दाज़ में उनकी कहानियाँ सुनाता, "अरे भैया, बाबू आदमी थोड़ई हैं, फिरस्ते हैं। उस दिन सुबह-सुबह बन्दूक लिये हुए आ गए। बोले—'क्यों मुविन रेडियो-टेसन, अकेले-अकेले माल उड़ा रये हो !" मैंने कहा—बाबू, माल कहाँ, खिचड़ी है, तुम्हारे खाने की चीज नईं।' बस, बिगड़ गए। बोले—'अच्छा ! तुम अकेले खाओगे और हम तुम्हारा मुँह देखेंगे ?' और साहब, भगवान झूठ न बुलाए, मैंने जो लुकमा बनाने के लिए थाली की तरफ़ हाथ बढ़ाया, तो धड़ाक। साला दिल धक् से हो गया। और साहब, सूँ-सूँ करता हुआ एक कव्वा भड़ाक से थाली में आगे गिरा। राम ! राम !!! राम !!! कहाँ का खाना ! हाथ जोड़कर उठ खड़ा हुआ। क्या करता ? मगर क्या बेचूक निशाना। साले उड़ते पंछी कू जहाँ चाहा, वहाँ गिरा दिया।"

निशाने की तारीफ़ भाई देवीसहाय जी भी किया करते थे। मगर उससे भी ज्यादा वे भाई साहब के गले पर मुग्ध थे। उनका तकिया-कलाम 'ओख़्खो जी' था। इसलिए भाई साहब उन्हें 'ओख़्खो भाई साहब' कहा करते थे। उनके म्यूज़िक-प्रोग्राम में बुजुर्गों का प्रतिनिधित्व केवल 'ओख़्खो भाई साहब' किया करते थे। हम बच्चों का इस प्रोग्राम में बैठने की इजाज़त नहीं होती थी। लिहाजा हम हॉल के बन्द दरवाज़ों के पास कान लगाकर सुना करते। तबले के ठोकने, हारमोनियम के स्वर मिलाने और भाई साहब के आलाप लेने से शुरू कर ख़त्म होने तक हम कई लड़के वहाँ खड़े रहते और जब भाई देवीसहाय जी कहते, 'अख़्खोजी, क्या चीज़ सुनाई है, भाई चन्दन ! कहाँ से मार दी ?' तो बड़े लड़के कान लगाकर ग़ौर से सुनने की कोशिश किया करते थे।

मुझे उस समय तक संगीत में इतनी दिलचस्पी नहीं थी। इसलिए मुझे जब भी भाई साहब की याद आती, तो उनकी बातें और कहानियाँ सुनने के लिए मैं ओख़्खो भाई साहब की बनिस्बत, भिक्खन चमार की बातें सुनना ज़्यादा पसन्द करता, जो उन्हें एक महान् और आदर्श नायक के रूप में पेश किया करता था।

लेकिन मंडावलीवाली भाभी, जो रिश्ते में हमारी कुछ न होते हुए भी बहुत कुछ होती थीं, न तो भाई साहब की महानता के किस्से सुनातीं और न पौरुष के, बल्कि कई घंटों अपनी ही शैली में, उनकी बड़ी-बड़ी आँखों का और उनके रंग-रूप का, उनके सौन्दर्य का और उनकी शरारतों का हाव-भाव सहित वर्णन किया करती थीं। मेरी तरह उन्हें भी भाई साहब पसन्द थे और भाई साहब की बातें सुनाने में वे उतना ही रस लेती थीं, जितना मैं सुनने में।

"पिछली बार मैंने खूब सुनाई," भाभी सुनाया करती थीं, "मैंने कहा—लालाजी, कहीं भले घर के लड़के पान खाया करते हैं ! हमारे ख़ानदान में तो किसी लड़के ने शादी से पहले पान छुआ तक नहीं था। तुम्हारे ख़ानदान में अक्ल के चिराग़ ऐसे बुझ गए कि कोई कहनेवाला ही नहीं रहा।' बस भैया, इतना सुनना था कि वे तो लगे हाथ-पाँव जोड़ने—'अरे मेरी प्यारी गुलाबी भाभी ! मुझे माफ़ कर दो। मैं कान पकड़ता हूँ, अब कभी पान नहीं खाऊँगा।"

"हाय राम, इतने में ही देखती क्या हूँ कि तुम्हारी अम्मा बगड़ की तरफ़ से चली आ रही हैं । अब मेरी एक साँस ऊपर और एक साँस नीचे । बराबर की उम्र का खूबसूरत और जवान देवर क्यों तुम्हारे सामने कान पकड़े खड़ा है ? - वे पूछ बैठतीं तो मैं क्या जवाब देती? मगर उन्होंने पहले लालाजी को ही डाँटा - 'क्यों रे चन्दन, कान पकड़े क्यों खड़ा है?'

"लालाजी का चेहरा उतर गया। बोले- 'बीजी, मुझसे बड़ी गलती हो गई थी। मगर आज भाभी ने मेरी आँखें खोल दीं -सो कान पकड़कर प्रायश्चित्त कर रहा हूँ ।"

"हाय राम ! मेरी साँस उखड़ने लगी। लालाजी ये कैसी उल्टी-पुल्टी बातें कर रहे हैं! अपने आप तो कुछ का कुछ कह-सुनकर मुरादाबाद चले जाएँगे और औरतों में फजीहत होगी मेरी । उधर मैंने देखा, चाचीजी के सफेद रंग पर भी गुस्से की सुर्खी उभरने लगी थी। मगर उन्होंने मुझसे फिर भी कुछ नहीं कहा। उनसे ही बोलीं-
'साफ़-साफ़ बोल ! क्या नाटक लगाए रहता है हर वक़्त ?"

“अब उन्हें उत्तर देना ही पड़ा, बोले- 'बीजी, हमारी भाभी रूपवती ही नहीं, ज्ञानवती भी हैं। आज इन्होंने मुझे इस बात पर बड़ा सुन्दर भाषण दिया कि क्वारे लड़के पान खाकर होंठ रँगे नहीं घूमा करते। क्यों बीजी, क्या क्वारे लड़के सचमुच पान नहीं खाया करते?'

“बस भैया, तुम्हारी अम्मा ने एक क्षण उनके होंठों की तरफ़ देखा और दूसरे ही क्षण उनके चेहरे की वह सुर्खी गायब हो गई । उस दिन वे पहली बार थोड़ा-सा मुस्कराईं भी । मुझसे बोलीं- 'बहू, तू बड़ी बेवकूफ़ है । चन्दन ने पान कहाँ खाया है? ध्यान से देखा कर।"

"चाचीजी तो इतना कहकर चली गईं, पर हाय राम, लालाजी कितने बेशरम हैं कि खीं-खीं करके हँस पड़े। मैंने गौर से उनके होंठों की तरफ़ देखकर कहा - 'लालाजी, तुम्हारे होंठ तो सचमुच पान खाए-से लगते हैं।' तो वे बोले-'हाँ, मेरी गुलाबी भाभी, ज़रा ध्यान से देखो, छूकर देखो और हो सके तो चूम कर ... ।' बस, भैया, मैं फ़ौरन अन्दर भागी और वे मेरे पीछे-पीछे... मगर एक बात है, मन में मैल उनके ज़रा भी नहीं । जो भी कहेंगे, शुद्ध चित् से ।"

भाभी अपने हर किस्से के अन्त में एक लाइन ज़रूर जोड़तीं, "लाला, मगर ज़िक्र मत करना किसी से ज़माना बड़ा ख़राब है।"

मुझे मंडावलीवाली भाभी की बातें खूब अच्छी लगतीं - भाई साहब ने किस प्रकार एक दिन दोपहर में आकर उनकी दूध की हाँडी की सारी मलाई सफाचट कर दी, किस प्रकार उन्होंने भाभी का जमा- जोड़ा आधा सेर घी एक ही बार में खिचड़ी में डालकर हज़म कर लिया, किस प्रकार उन्होंने खेल-ही-खेल में भाभी को उठाकर कमरे की टाँड पर बिठा दिया और सीढ़ी लेकर चले गए, आदि अनेक कहानियाँ भाभी घंटों सुनाती रहती थीं ।

क्योंकि भाभी हर बार एक नई कहानी सुनातीं और केवल मुझे ही सुनातीं, इसलिए मुझे मज़ा भी आता था, मगर भाई साहब के दोस्तों की सब बातें मुझे मज़ेदार नहीं लगती थीं । शिकार की कहानियों तक तो अच्छा लगता था, क्योंकि लम्बे और बड़े शिकार में या रात के शिकार में भाई साहब मुझे अपने साथ नहीं ले जाते थे। मगर उनकी लड़कियों की बातें मुझे अच्छी नहीं लगती थीं और मैं शरमाकर वहाँ से उठने की सोचने लगता था । लेकिन छुट्टन, सागर, विजीश और इन्दल और पास सरक आते और भाई साहब के अभिन्न मित्र कल्यान चाचा से पूछते, “हाँ भाई, तो फिर वह पटी ?”

“अरे, पटती कैसे नहीं साली! चन्दन क्या कोई मामूली आदमी है ! साली के पास सौगातों का ढेर लगा दिया। रोज हम लोग उसी गाँव की तरफ शिकार खेलने जाते थे और साली के लिए कभी पौडर, कभी क्रीम, कभी मिस्सी, कभी हार-कुछ-न-कुछ ले ही जाते । साली बरोब्बर उसी टैम दरवाजे पर खड़ी मिलती । आखिर झख मारकर उस दिन पीछे-पीछे जंगल में आ ही गई।”

“आ गई' अपने आप?” विजीश ने आश्चर्य से पूछा । "

"अरे अपने आए क्या? मैंने उससे कहा और वह चली आई ।" कल्यान चाचा ने उसी लापरवाही से उत्तर दिया ।

“भाई साहब ने नहीं कहा?" विजीश ने फिर प्रश्न किया ।

“अरे उन्होंने तो साली की तरफ़ दो से तीसरी बार देखा भी नहीं । कुछ कहो भाई, चन्दन की तो आँख में ऐसा कोई जादू है कि साला एक बार कोई नजरें मिला ले तो वशीकरण हो जाए ।"

"तो फिर वह आ गई?" इन्दल ने आगे का हाल जानना चाहा ।

“अबे, आती क्यों नहीं? गुड़ खाएगी तो अँधेरे में जरूर आएगी।” कल्यान चाचा उसकी बार-बार की जिज्ञासा से झुंझलाकर बोले, "सालो, इस सड़ी नसीबन के दीवाने बने घूमते हो। उसे देख लो तो गश खाकर गिर पड़ो। साली एकदम पटाखा है । चन्दन भी मान गया कि हाँ, ऐसी चीज मैंने मुरादाबाद तक में नहीं देखी ।"

कल्यान चाचा के ऐसे ओजस्वी वक्तव्य पर उस दिन सब शान्त हो गए थे और मैं शरमाकर उठ लिया था। शायद मेरे उठने की ही प्रतीक्षा में कुछ प्रश्न लोगों की ज़बान में बन्द थे। जाते-जाते मैंने सुना, दबी ज़बान से इन्दल ने पूछा था, "तो फिर बात बनी ?"

उस दिन अगर रगुवा नाई न होता तो मैं ज़रूर बेहोश होकर गिर पड़ता।

मैं बैठक के सहन में पिताजी के मूढ़े से लगकर खड़ा था। आसपास गोलाकार रखे मूढ़ों पर और कई लोग बैठे थे। थोड़ी ही देर पहले पिताजी बिजनौर से आए थे। स्टेशन से गाँव तक बैल - ताँगे के सफ़र के कारण उनके कपड़ों, मूँछों और सिर के बालों पर धूल जम गई थी। वे मूढ़े पर बैठे-बैठे हाथ-मुँह धो रहे थे और मुक़दमे में हुई जिरह की ख़ास ख़ास और मज़ेदार बातें लोगों को सुनाते जा रहे थे।

हमेशा यही होता था। पिताजी जब भी बिजनौर की जिला कचहरी से लौटते, लोग बैठक पर ही उन्हें घेर लेते और वे दो-तीन और कभी-कभी चार घंटे बाद, शाम गुजर जाने पर घर में घुसते। हमेशा घर से रगुवा नाई द्वारा तम्बाकू मँगवाकर हुक़्क़ा भरवाते और फिर हुक्के के साथ जो बातचीत का दौर चलता, उसमें अक्सर इस बात को भूल जाते कि उनके झोले में मेरे लिए जो फल या मिठाइयाँ रखी हैं, वे पिचककर चूरा हो जाएँगी या उनका मज़ा किरकिरा हो जाएगा।

एक बार उत्सुकता और उतावली में मैंने उनका झोला छू लिया था। उस दिन का झाँपड़ आज तक याद है। इसी तरह एक बार मैंने नए बैलवान को फुसलाकर उससे झोला उठवा लिया था। उसे पिताजी ने इतनी गालियाँ दी थीं कि बेचारा घबराकर अगले दिन से छुट्टी पर बैठ गया था। इसलिए मैं विवश -सा उनके बिजनौर से लौटते ही चुपचाप उनके मूढ़े से लगकर खड़ा हो जाता और वे मेरी पीठ पर प्यार-भरी थपकियाँ लगाते हुए लोगों को कचहरी के क़िस्से सुनाते रहते थे। इस बीच जब भी उन्हें ध्यान आता, वे फ़ौरन मूढ़े से टिका झोला उठाकर एक बड़ा-सा पैकेट मेरी ओर बढ़ाते हुए कहते, "लो बेटे, शाबाश!"

आख़िर झोले में ऐसी क्या चीज़ है, यह उत्सुकता मेरे मन में बहुत दिनों तक बनी रही। कई बार मूढ़े से टिके हुए उनके झोले की तलाशी भी ले डाली। मगर उसमें एक-दो पैकेट, कुछ कागज़ों की मिसिलें तथा एक-दो छोटी-बड़ी शीशियों या बोतलों के अलावा ऐसी कोई चीज़ नहीं मिली जिससे मेरा कुतूहल शान्त होता।

माँ यह प्रश्न करने पर हमेशा मुझे झिड़क देतीं और जितनी निराशा मेरे हाथ लगती उतना ही यह प्रश्न मेरे लिए और अधिक जटिल तथा रहस्यमय हो जाता। उतना ही अधिक मैं उसे जानने के लिए उत्सुक हो उठता।

मगर उस दिन यह गुत्थी भी अनायास सुलझ गई थी।

जब मुझे पिताजी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने का कोई उपाय न सूझा तो मैंने कहा, "पिताजी, अब आप बूढ़े हो गए हैं।"

इस वाक्य पर पिताजी ऐसे चौंक पड़े, जैसे उनके पाँवों के बीच से साँप गुजर गया हो ! उनकी इस अप्रत्याशित मुद्रा से मैं भी घबरा गया। मगर दूसरे ही क्षण हँसकर सहज होते हुए उन्होंने कहा था "क्या बकता है बे?"

मैंने सँभलते हुए उत्तर दिया, " देखिए न, धूल जम जाने से आपके बाल कैसे सफ़ेद सफ़ेद लग रहे हैं !"

पिताजी बड़े ज़ोर से कहकहा लगाकर हँसे थे। पास बैठे लोगों ने भी उनका साथ दिया था। उसी बीच उनका ध्यान मूढ़े से टिके हुए अपने झोले की ओर भी गया था, जिसमें से उन्होंने वह पैकेट निकालकर मेरे हाथों में थमा दिया था जिसकी प्रतीक्षा मैं इतनी देर से कर रहा था।

ठीक उसी समय, जब मैं पैकेट लेकर जाने की सोच रहा था, चार-पाँच आदमी भाई साहब को कन्धों पर लादे हुए चबूतरे पर चढ़े। पहले-पहल मैंने समझा कि कोई और आदमी है। भाई साहब का मुँह एक आदमी के कन्धे पर

पीछे को लटका था। उन्होंने शेरवानी और चुस्त पाजामा पहन रखा था। मगर शेरवानी के सारे बटन खुले थे और उसके सामने के हिस्से पर सब्जी या गोश्त के शोरबे के ताज़ा दाग़ थे ।

उन लोगों ने बिना कुछ कहे उन्हें वहीं एक चारपाई पर लिटा दिया और पिताजी की ओर ऐसे देखने लगे, मानो पूछ रहे हों कि उन्हें अब क्या करना चाहिए ! मैं खुद नहीं जानता था कि मुझे क्या करना चाहिए । सारा वातावरण ख़ामोश था और मैं भी उस ख़ामोशी का एक अंग बना खड़ा था लेकिन जैसे ही पलंग के चारों ओर खड़ी भीड़ ज़रा कम हुई और मैंने भाई साहब के मुँह में झाग जैसा थूक देखा तो मैं अनायास 'भाई साहब' की मर्मभेदी चीख़ के साथ बेहोश होकर गिर पड़ा। जाने कैसे मुझे अचानक यह लगा कि भाई साहब मर गए हैं और मुझे उतनी शिद्दत और गहराई के साथ प्यार करनेवाला अब कोई नहीं बचा है ।

लेकिन भाई साहब मरे नहीं थे, वे थोड़ी ही देर बाद उल्टियाँ करने लगे। और मैं भी बेहोश होकर नीचे नहीं गिरा था, क्योंकि रगुवा नाई ने मुझे बीच में ही पकड़कर झकझोर दिया था। हाँ, मेरे हाथ से छूटकर वह पैकेट ज़रूर नीचे गिर पड़ा था। तभी पिताजी ने ज़ोरदार डाँट लगाई थी, " तू हरामजादे, खड़ा खड़ा मुँह क्या देख रहा है? इसे घर छोड़कर आ ।" और रगुवा तत्काल गोद में उठाकर पैकेट के साथ मुझे घर पहुँचा गया था ।

वह दिन मेरे लिए शायद सबसे अधिक यन्त्रणा और त्रास का दिन था ।

भाई साहब की ओर से इतनी निश्चिन्तता तो हो गई थी कि वे जीवित हैं, किन्तु ऐसा नहीं लगता था कि वे ख़तरे से बाहर हैं। शायद ऐसी ही आशंकाओं के कारण मेरा चेहरा फ़क पड़ गया था और मेरी बोलचाल में सहजता नहीं रह गई थी। माँ ने बिना कुछ सुने मेरी मनःस्थिति भाँप ली और रगुवा से जैसे छीनकर मुझे अपने पास खींच लिया।

जाने स्नेह में ऐसा क्या कुछ होता है कि मैं एक बार फिर खुलकर रो पड़ा, “भाई साहब!” और एक बार फिर माँ ने मुझे चुपचाप सीने से लगाकर भींच लिया ।

कई मिनट बाद रगुवा ने जैसे अपनी उपस्थिति का अहसास कराने के लिए ही कहा था, "कोई खतरे की बात नहीं है माँजी, बाबूजी ने जरा ज्यादा पी ली है । जसपुर के लोग लादकर लाए हैं ।"

“जा, जा, अपना काम कर।" माँ ने उसे बुरी तरह झिड़क दिया था, जैसे उन्हें सब मालूम हो या जैसे वे इस अप्रिय प्रसंग पर कोई बात न सुनना चाहती हों। रगुवा 'हें हें' करता हुआ चला गया था, लेकिन मेरे लिए एक और सवाल छोड़ गया था कि भाई साहब ने क्या चीज़ ज़्यादा पी ली है?

... क्या शराब ? मैंने अपने आप ही सवालिया उत्तर दिया था । क्योंकि स्त्रीलिंग में, पीने के सन्दर्भ में मैंने केवल शराब का नाम सुना था । केवल नाम ! रूप, गुण और स्वाद के भेद से पहचानता उसे भी नहीं था। कई बार माँ पिताजी पर बिगड़ा करती थीं, 'तुम आज फिर शराब पीकर घर में आए हो ! मैंने तुमसे हज़ार बार कहा कि मैं तुम्हें इस घर में शराब पीकर नहीं घुसने दूँगी । बाहर तुम मुर्गे काटो, तीतर बनाओ, मैं तुम्हें नहीं रोकती, लेकिन घर में...'

फिर भी उक्त सन्दर्भ में एक शंका उठ खड़ी होती थी कि मैंने पिताजी को तो कभी ऐसी हालत में नहीं देखा। शराब पीने के बाद उन के मुँह में तो कभी झाग नहीं देखे, वे तो कभी बीमारों की तरह खाट पर नहीं डाले गए; बल्कि वे तो तुर्की तुर्की माँ से बहस करते थे। कभी-कभी दो-चार शेर सुनाते या लड़ते थे और अन्त में अपना - सा मुँह लेकर बाहर चले जाते थे ।

फिर क्या भाई साहब ने कुछ और चीज़ पी है? मैं माँ से पूछना चाहता था पर उसी समय बैठक से ज़ोर-ज़ोर से आवाजें आने लगीं। तत्काल माँ मुझे लेकर उस कमरे की तरफ़ चली गईं जो बैठक के पास पड़ता था । पिताजी चीख- चीख़कर गालियाँ दे रहे थे, “हरामजादे, आज मैं तुझे पिलाऊँगा ! साले ने ज़िन्दगी को शराबखाना बना लिया है। सूअर के बच्चे, बदज़ात! आज मैं तेरी खाल खींचकर भुस भर दूँगा ।... ला बे, लाठी उठा।"

और इसके बाद सड़ सड़' लाठियों के मारे जाने की ध्वनियाँ और भाई साहब की दर्द भरी आवाज़ें 'पिताजी, अब नहीं पीऊँगा...पिताजी, अब माफ़ कर दीजिए' कानों में आने लगी थीं ।

हर लाठी की आवाज़ के साथ मेरा दिल दहल जाता और मैं माँ की गोदी में बैठा-बैठा काँप उठता। मगर हर कम्पन के साथ माँ मुझे सीने से लगा लेतीं। हर आवाज़ के साथ भाई साहब माफी माँगते और हर माफ़ी के बाद मुझे ऐसा लगता कि अब पिताजी ज़रूर माफ़ कर देंगे। पर भाई साहब ने कम-से-कम बीस बार माफ़ी माँगी और पिताजी ने कम-से-कम इक्कीस लाठियाँ मारीं । अन्तिम लाठी पर मैंने सोचा था कि भाई साहब को अब माफ़ी नहीं माँगनी चाहिए। शायद पिताजी इसीलिए और मारते हैं । और एक क्षण के लिए मुझे यह भी लगा था कि भाई साहब ने माफी नहीं माँगी है, इसीलिए पिताजी ने उन्हें मारना बन्द कर दिया है।

मगर बात बिलकुल दूसरी थी। मुझे पता भी नहीं चला था कि माँ कब मुझे अलग बिठाकर बाहर निकल गईं। अचानक बाहर से उनकी तेज़ आवाज़ आनी शुरू हो गई थी, “हत्यारो, तुम डूब क्यों नहीं मरते ? तुम्हारी आँखों में पत्थर पड़ गए हैं? तुम्हें दिखाई नहीं दे रहा है कि यह राक्षस शराब पीकर मेरे बच्चे को जान से मारने पर तुला है ! और तुम तमाशा देख रहे हो ?"

माँ की आवाज़ सुनकर मैं अन्दर बैठा-बैठा रोने लगा था।

लोग माँ को समझा रहे थे । कुछ सफ़ाई दे रहे थे । ओख भाई साहब बता रहे थे, “चन्दन को बचाने के चक्कर में पाँच-सात लाठियाँ तो ओख़खो जी मेरे पर ही पड़ गईं।" शायद वे अपनी कलाई दिखाने को भी कह रहे थे। पर मैं रो रहा था, रोए चला जा रहा था। मुझे यह भी लग रहा था, भाई साहब के इतने सारे दोस्त, इतने सारे प्रशंसक, सब कहाँ मर गए? उन्होंने क्यों नहीं आकर पिताजी को रोका ?

माँ की बात ने मेरी भावनाओं को भड़का दिया था, मगर साथ ही पिताजी की भावनाओं को भी। उन्हें माँ से यह उम्मीद नहीं थी कि वे सहसा बाहर आकर उन्हें और उनके दोस्तों को इस प्रकार ज़लील करने लगेंगी। खुद मेरी याद में माँ को इस प्रकार बाहर निकलकर चिल्लाना पहली घटना थी । इसलिए पिताजी का पारा एकदम आसमान पर चढ़ गया था और गले की सारी ताक़त से चिल्लाकर उन्होंने कहा था, "हरामज़ादी, तू यहाँ क्या करने आई है? तेरा क्या मतलब है यहाँ आने का?"

" मेरा क्या मतलब है... ?” माँ ने दाँत किचकिचाकर केवल इतना ही कहा था। बाक़ी शब्द उनकी हिचकियों और आँसुओं में डूबकर बह निकले थे, “मेरी कोख का जाया नहीं है, तो मेरा नहीं है? मैं सौतेली माँ हूँ तो उसे मर जाने दूँ? राक्षस.... ज़ालिम... मुझे ये मालूम नहीं था कि सगा होने का यह मतलब होता है ! अगर तू इसका सगा है तो ईश्वर की क़सम, मैं सौतेली बहुत अच्छी हूँ...।”

माँ बहुत देर तक रोती और जाने क्या-क्या कहती रही थीं। उनकी हिचकियों में उनके शब्द साफ़ सुनाई नहीं दे रहे थे। बाद में उनकी आवाज़ कुछ धीमी हो गई थी। शायद वे चबूतरे के दूसरी तरफ़ चली गई थीं जहाँ भाई साहब की चारपाई पड़ी थी। काफ़ी देर बाद भाई साहब ने घुटी हुई आवाज में उन्हें पुकारा था - 'बीजी !' और मैंने सुना था, भाई साहबकभी बीजी और कभी मैनाजी का नाम ले-लेकर कुछ बड़बड़ा रहे हैं।

भाई साहब लगभग बेहोश अवस्था में घर उठाकर लाए गए थे । उनकी चारपाई आँगन में डाल दी गई थी। ऊपरवाली चाची से पंखा झलने को कहकर माँ हल्दी और दूध गरम करने लग गई थीं। रगुवा कोई तेल ढूँढ़ रहा था । मैं चुपचाप बैठक की तरफ़वाले कमरे से उठकर आँगन के पास आ गया था और थमले से लगा खड़ा था। शायद मैं खाट के पास तक जाने का साहस बटोर रहा था, या शायद मैं किसी अज्ञात कारण से डर रहा था। पर मैं भाई साहब को निकट से देखना चाहता था । मैं यह जानना चाहता था कि उन्हें कितनी चोट लगी है ।

तभी नटखट मुझे बुलाने आ गई। बोली, “चल, अभी चल, भाभी ने बुलाया है।" भाभी यानी मंडावलीवाली भाभी । उन्हें कितना प्यार मैं करता हूँ, पर मैं उस समय जाने की मनःस्थिति में नहीं था । मुझे लगता था, मेरे जाने से कहीं कुछ गड़बड़ हो जाएगा । किन्तु उसी समय माँ की नजर - शायद बहुत देर बाद - मेरे ऊपर पड़ी थी ।

एक क्षण के लिए उनकी आँखों में बहुत-सा लाड़ उमड़ा था और दूसरे ही क्षण आवाज़ में स्वाभाविक दृढ़ता लाते हुए उन्होंने कहा था, "हाँ, हाँ, चला जा। क्या हर्ज़ है !"

माँ की आवाज़ ऐसी थी कि मैं मना नहीं कर सका । चुपचाप नटखट के साथ हो लिया ।

कब हवेलियों का कच्चा गलियारा पार हुआ और कब नटखट के साथ नाली फलाँगकर मैं मंडावलीवाली भाभी के कच्चे अहाते में जा खड़ा हुआ, मुझे कुछ याद नहीं । बस, इतना याद है कि भाभी दोनों हाथों से कसीदे का घेरा लिये कोई फूल काढ़ने की कोशिश कर रही थीं ।

मैं बहुत छोटा था । नटखट से तीन-चार साल बड़ा । फिर भी देवर होने के नाते भाभी मुझसे 'तुम' कहके आदर के साथ बोलती थीं ।

"बैठ जाओ, लाला !" उन्होंने बड़े प्यार के साथ कहा और खुद वह घेरा एक ओर रखकर रसोईघर में चली गईं। जब वे लौटीं तो उनके हाथ में खीर से भरा एक कटोरा था जो उन्होंने बिना कुछ कहे मेरे हाथ में पकड़ा दिया ।

भाभी के यहाँ जब भी खीर बनती, वे मेरे लिए ज़रूर भेजतीं । उस दिन दोपहर को नहीं भेजी थीं, इसलिए शाम को खिला रही थीं - उस समय मैंने यही सोचा था और यही सोचकर मैं खीर खाने लगा था।

सदैव हँसती रहनेवाली चंचल भाभी उस समय बहुत उदास लग रही थीं। वे कुछ बोल नहीं पा रही थीं। इसलिए मुझे अचानक लगा कि भाभी से वह बात मालूम करूँ जो माँ और पिताजी की लड़ाई से उभरकर मेरे भीतर बहुत देर से अकुला रही है ।

"अच्छा, भाभी, ये सौतेली माँ कैसी होती है?" मैंने पूछा ।

"एँ !" भाभी सहसा चौंक पड़ीं, जैसे उस मनःस्थिति में वे किसी प्रश्न की उम्मीद न कर रही हों । फिर अचानक बोलीं, "तुमने कुछ पूछा था ?"

"हाँ, भाभी, " मैंने फिर कहा, "ये सौतेली किसे कहते हैं ? "

"सौतेली !" उन्होंने दुहराया, "सौतेली माँ ?"

"हाँ," मैंने उन्हें जैसे सहारा दिया ।

" सौतेली का मतलब होता है - जो सगी माँ न हो।" भाभी को खुद लगा कि वे अपनी बात साफ़ नहीं कर पा रही हैं। इसलिए फिर बोलीं, "अब जैसे तुम हो। तुम चाचीजी के पेट से पैदा हुए हो, मगर तुम्हारे भाई साहब चाचीजी के पेट से पैदा नहीं हुए हैं । वे तुम्हारी पहली माँ यानी तुम्हारे पिताजी की पहली पत्नी के पेट से पैदा हुए थे । इस तरह चाचीजी तुम्हारे भाई साहब की सौतेली माँ हुई।"

"क्या सगी माँ बहुत बुरी होती है ?"

"नहीं जी ! सगी माँ क्यों बुरी होने लगी?"

"तो क्या सौतेली माँ बुरी होती है ?"

"हाँ; कोई-कोई सौतेली माँ बुरी होती है," भाभी ने बहुत सोचते हुए धीरे-धीरे कहा और फिर जैसे थोड़ी-सी दुविधा पार करते हुए बोलीं, "मेरी भी एक सौतेली माँ है, लाला । उसने मुझे बहु दुख दिया है।"

मैं भाभी के चेहरे पर उभर आई विषाद की छाया देखकर अपना अगला प्रश्न भूल गया था। मगर तभी भाभी सहज हो उठीं और बोलीं, " पर सभी सौतेली माँ एक-सी नहीं होतीं। अब हमारी चाचीजी ही हैं । तुम्हारे भाई साहब को कितना प्यार करती हैं !" कहते-कहते भाभी के नेत्र सजल हो आए ।

"भाई साहब भी तो उन्हें बहुत प्यार करते हैं, " मैंने भाई साहब का पक्ष सुदृढ़ करने के लिए कहा ।

भाभी समझ गईं और मुस्करा दीं। बोलीं, "उनका क्या, वे तो तुम्हें भी बहुत प्यार करते हैं। करते हैं न?"

"हूँ," मैंने बड़े रौब से गरदन हिलाई ।

"अच्छा, और किस-किसको करते हैं - बताओ तो जरा?" भाभी ने मेरे ज्ञान की परीक्षा लेनेवाले अन्दाज़ में पूछा, मगर उत्सुकता से वे आगे खिसक आईं।

"और..." मैंने सोचते हुए उत्तर दिया, "कल्यान चाचा और विजीश को ।"

" और ?" भाभी ने पूछा ।

"माँ को ।"

"और ?"

" यादराम ... नहीं पिताजी को भी ।" मगर पिताजी का नाम लेते ही जैसे मेरी ज़बान को लकवा मार गया और मैं कहीं और खो - सा गया।

मगर भाभी बराबर पूछती ही रहीं, "और... और ?"

और मैं कोई उत्तर न दे सका। मेरा 'मूड' बिगड़ गया था । पिताजी की याद ने सब चौपट कर दिया था ।

नटखट चक्की पर जा बैठी थी और बिना अनाज डाले घड़-घड़, घड़-घड़ किए जा रही थी । कोई ऐसी ही चक्की मेरे दिमाग़ में भी चल रही थी। और मुझे लगा, शायद ऐसी ही चक्की भाभी के दिमाग़ में भी चल रही है, क्योंकि वे भी सहसा ख़ामोश हो गई थीं। एक और भी गहरी उदासी की छाया फिर उनके चेहरे पर आ बैठी थी ।

मैंने कहा, "मैं चलूँगा ।"

" अरे !" भाभी जैसे चौंक उठीं और अचानक उनके मुँह से निकला, "अब कैसी तबीयत है उनकी ?"

"किनकी ?" मैंने पूछा था, क्योंकि मुझे गुमान भी नहीं था कि भाभी तक भाई साहब के पिटने की बात पहुँच गई होगी और न मैं चाहता था कि यह बात उन तक पहुँचे । आश्चर्य उस समय यह बात मेरे दिमाग़ में नहीं आई कि भाभी ने मुझे उनकी ख़ैरियत पूछने के लिए ही बुलाया है - खीर खिलाने के लिए नहीं ।

भाभी एक मिनट के लिए ऐसी ठगी-सी खड़ी रह गईं, जैसे उनकी कोई चोरी पकड़ ली गई हो ! लेकिन मेरी ओर देखकर वे फिर आश्वस्त हुईं और बोलीं, "तुम्हारे भाई साहब की।"

" अच्छी है," मैंने यूँही कहा और उठ खड़ा हुआ ।

लौटते में, नाली पर खड़े अमरूद के पेड़ से उचककर पत्ता तोड़ते हुए मुझे खयाल आया कि आज भाभी भी इसीलिए इतनी खोई-खोई-सी थीं। इसीलिए वे अजीब बहकी-बहकी और बेसिलसिलेवार बातें कर रही थीं। उदाहरण के लिए ... और उदाहरण ढूँढ़ते में मैं गड़बड़ा गया। मुझे लगा, भाभी ने बातें ही कहाँ कीं ? बातें तो मैं

ही कर रहा था। भाभी ने तो सिर्फ़ कुछ पूछा था । हाँ, यह कि तुम्हारे भाई साहब और किस-किसको प्यार करते हैं? और मैं ही बहक गया था, मेरा उत्तर कल्यान चाचा के बाद पिताजी पर आकर ख़त्म हो गया था, जबकि असल बात यह है कि भाभी का नाम उसमें सबसे ऊपर होना चाहिए था।

मैं फ़ौरन लौट पड़ा। भाभी अभी तक वैसे ही दोनों हाथों में फ्रेम का घेरा लिये बैठी थीं। मुझे देखकर बोलीं, “अरे, तुम आ गए!”

“भाभी, तुमने पूछा था...?” मैंने सीधा सवाल किया ।

“हाँ, हाँ !” भाभी ने प्रश्न को तुरन्त सन्दर्भ से जोड़ते हुए उत्सुकता से गरदन हिलाई ।

“तो बताऊँ ? भाई साहब सबसे ज़्यादा प्यार मुझे करते हैं, फिर तुम्हें, फिर माँ को, फिर कल्यान चाचा को ...” और आगे पिताजी का नाम लेते हुए मैं अटक गया था ।

"हट!" उन्होंने पहली बार मुझे अनादरसूचक शब्द से सम्बोधित किया था। लेकिन मैंने चौंककर देखा था कि उनका चेहरा एकदम स्वाभाविक और फूल की तरह ताज़ा हो आया है। थोड़ी देर पहले छाई उदासी उनके मुँह से गायब हो गई और वे मुस्कराने लगी हैं।

मैं लौटने लगा तो उन्होंने हाथ बढ़ाकर मुझे पकड़ लिया, बोलीं, “थोड़ी खीर और खानी पड़ेगी - समझे?" और वे जल्दी से रसोईघर से पतीली उठा लाईं जिसमें मुश्किल से एक छोटी कटोरी खीर बची थी ।

हमारी हवेली में दो चौक थे- एक पश्चिम की तरफ़, दूसरा पूरब की तरफ़ । पश्चिम के चौक के बाद छोटे चाचाजी की हवेली थी और पूरब के चौक के बाद बीच में एक सँकरा-सा रास्ता छोड़कर हमारी बैठक थी, जहाँ पिताजी का अनवरत बोलनेवाला हुक्का और मुक़दमों की चर्चाएँ चला करती थीं ।

उस रात को बहुत देर तक पिताजी घर नहीं आए थे। न उस रोज खाना बना था और न हमेशा की तरह पिताजी की बुलाहट हुई थी। भाई साहब की खाट आँगन से कमरे में पहुँच गई थी।

माँ ने उस दिन न कुछ पकाया, न खाया। यह जान लेने के बाद कि मैंने भाभी के यहाँ दो कटोरे खीर खा ली है, वे मेरी ओर से पूर्ण निश्चिन्त हो गई थीं। बड़े गिलास का सारा दूध पिलाकर और मुझे पूर्वी और पश्चिमी चौक के बीचवाले कमरे में लिटाकर वे भाई साहब के पास आ गई थीं और बैठी- बैठी उनके सिर पर हाथ फेर रही थीं। भाई साहब बीच-बीच में और रह-रहकर सुबक उठते थे।

कुछ बोलते मैं पड़ा पड़ा यह सोच रहा था कि यदि मेरी भी कोई सौतेली माँ होती तो कैसी होती? अच्छी होती तो शायद मुझे इतना ही प्यार करती जितना माँ भाई साहब को करती हैं। बुरी होती तो शायद भाभी की माँ की तरह मुझे भी दुख देती । ... फिर मैं सोचने लगा कि भाई साहब माँ को माँ क्यों नहीं कहते, बीजी क्यों कहते हैं? क्या सौतेली माँ को बीजी कहा जाता है? भाभी से पूछूंगा।

उसी समय दुबारी का बड़ा दरवाज़ा खुला और यादराम पिताजी का हुक़्क़ा लिये हुए अन्दर आया ।

“इस तोप को एक तरफ़ फेंक दे।” मैंने माँ को कहते सुना । वे पिताजी के हुक़्क़े को तोप कहा करती थीं ।

"माँजी, अभी मुरादाबाद से मुंशीजी आए हैं ।” यादराम ने जैसे कोई रहस्य उद्घाटित करते हुए कहा था ।

"तो मैं क्या करूँ?" माँ ने अपना गुस्सा मुंशीजी पर उतारते हुए कहा, "मैं इस समय उनके लिए टिक्कड़ नहीं बेलूँगी।”

"जी, चौधरी साहब और वे दोनों अन्दर आ रहे हैं," कहकर यादराम पूर्वी चौकवाले बड़े कमरे की तरफ़ चला गया, जिसका एक दरवाज़ा सीधे बाहर की बैठक की दिशा में खुलता था और जिसे वक़्त- बेवक़्त पिताजी बैठक के लिए भी इस्तेमाल कर लिया करते थे। मगर पिताजी उस रास्ते से नहीं आए।

"माँजी, सलाम!" मुंशीजी ने हवेली के चौक में क़दम रखते हुए दूर से ही माँ को सलाम किया था । उत्तर में माँ कुछ धीरे से बुदबुदाईं, जिससे मुंशीजी को सन्तोष नहीं हुआ। हालाँकि उम्र में मुंशीजी माँ से कुछ बड़े ही थे और छाती पर झूलती हुई उनकी दाढ़ी उन्हें और भी बुज़ुर्ग बना देती थी, फिर भी माँ का आशीर्वाद प्राप्त किए बिना वे टलते नहीं थे।

"क्या कर रही हैं, माँजी ?" उन्होंने दूसरा सवाल किया।

माँ शायद समझ गई थीं कि उन्हें उत्तर देना ही पड़ेगा। वे मुंशीजी को खूब जानती थीं। पिछले आठ-दस वर्षों से वे पिताजी के साथ थे। हालाँकि कहने को वे हमारे कारिन्दे थे, मगर उनका मुख्य काम था पिताजी के उन मुक़दमों की पैरवी करना जो मुरादाबाद और बिजनौर ज़िलों की कचहरियों में आए दिन चलते रहते थे । पिताजी उनके बारे में बड़े गर्व से कहा करते थे, 'मुझे फ़ख़ है कि मैंने कोयलों के ढेर से हीरा खोजा है ।'

मुंशीजी का पूरा नाम अतीकुर्रहमान अंसारी था और घर सैदपुरी में होने के बावजूद उनका स्थायी पता मार्फ़त कचहरी, जिला बिजनौर माना जाता था। वे क़ौम के जुलाहे थे और हमारे यहाँ कारिन्दा होने से पहले लोगों के मुक़दमों की पैरवी या पेशकारी किया करते थे। आसपास के गाँवों के जान-पहचान के व्यक्ति और अनजान लोग, जिन्हें गवाहों की ज़रूरत पड़ती या जो पुलिस की कृपा से पहली बार किसी मुक़दमों में फँस जाते, मुंशीजी की शरण में जाते थे। और मुंशीजी सिर्फ़ बिजनौर तक के किराए और रबड़ी के मेहनताने पर सदा-सर्वदा मुस्कराते हुए हर एक की सहायता के लिए तत्पर रहते थे ।

'लेकिन,' पिताजी ने एक दिन माँ को बताया था, 'मुंशी अतीकुर्रहमान लोगों के मुक़दमों के चक्कर में चाहे बिजनौर के सारे हलवाइयों की दुकानों की रबड़ी चख चुके हों, लेकिन मुंशाइन का शरीर ढकने को पूरा कपड़ा कभी नहीं जुटा पाए ।'

उसी दिन पिताजी ने मुंशीजी की ग़रीबी के साथ उनकी ईमानदारी, अख़लाक और क़ाबलियत पर भी कुछ रोशनी डाली थी । शायद उसी दिन उन्होंने मुंशीजी को मुरादाबाद का कोई बड़ा काम सुपुर्द किया था। उस समय मैं मुश्किल से तीन-चार साल का रहा हूँगा । इसीलिए मुझे सिवाय उनकी मेहँदी रची दाढ़ी के और बातें ठीक-ठीक याद नहीं हैं ।

हाँ, इतना मुझे अब भी याद है कि मुंशीजी ने कभी किसी से कड़वी बात नहीं कही, कभी किसी पर गुस्सा नहीं किया और कभी किसी को नाराज़ नहीं किया ।

हालाँकि कई बार मुंशीजी ने पिताजी के लिए काश्तकारों की ज़मीनें हड़पीं, उन्हें बेदखल कराया या किसी पर सौ के बदले हज़ार रुपए की नालिश ठोक दी, मगर मीठे वे फिर भी बने रहे । अनेक ऐसे मौके भी आए जब मुंशीजी की उन लोगों की गालियाँ, धमकियाँ और जूते तक बरदाश्त करने पड़े। एक बार तो अपने भिक्खन चमार ने ही उन्हें स्टेशन से आते हुए, रास्ते में, मूँगड़पुर गाँव के ठीक बीचोबीच पकड़कर दस जूते मारे थे, जिसकी खबर पिताजी को अगले दिन स्टेशन जाते हुए उस गाँव के लोगों से मिली थी। पिताजी बहुत बिगड़े थे। मुंशीजी ही किसी को सुना रहे थे, 'भाई मेरे, इतनी नाज़ुक और इतनी खूबसूरत गालियाँ मैंने चौधरी साहब की ज़ुबान से पहली बार सुनीं। तारीफ़ यह कि किसी गाली को उन्होंने दुहराया तक नहीं, लेकिन भिक्खन के ख़ानदान में उसकी दादी से लेकर पोती तक कोई भी उनकी गालियों की चपेट से बचा नहीं... वे तो उसी वक़्त ताँगा वापस लौटाने को कह रहे थे, मगर मैंने सोचा कि ये तो ठहरे ज़मींदार, इनका क्या बिगड़ेगा ! जाएँगे और उठाकर दस-बीस बेंत या जूते चमट्टे के सिर पर दे मारेंगे। मगर खुदा न खास्ता अगर कहीं साला मर वर गया तो बँधा फिरूँगा मैं। लिहाजा मैंने हाथ जोड़कर अर्ज़ की, कि सरकार, उसका किया उसके सामने आएगा। आप बिजनौर तशरीफ़ ले चलिए, आज मुक़दमे की तारीख है ।'

मगर इस सारी मिठास और उदारता के बावजूद कुछ लोग उन्हें कोसने से बाज़ नहीं आते थे। भिक्खन चमार कहा करता था, 'बड़ा जहरी है साला । ऊपर से तसबीह घुमाता रह है और मन-ही-मन लोगों की जड़ खोदता रहवै है । चौधरी साहब साफ तबीयत के आदमी हैं, मगर यह कमीन बड़ा फितना है । मुसल्टा अगर मीठा हो तो जान लो, उसमें सैतान का बास है ।' मगर मैं खुद भिक्खन की इस बात से सहमत नहीं था, क्योंकि मैं आज भी खामखाह मुंशीजी की बातों में नहीं खो गया हूँ। दरअसल उनका व्यक्तित्व ही इतना आकर्षक था कि उसकी थोड़ी-सी तुलना उनकी दाढ़ी के मुलायम मगर उलझे हुए बालों से की जा सकती थी । मैंने कई मौक़ों पर उन्हें पिताजी और माँ के झगड़ों में जज की भूमिका अदा करते देखा था। मगर आश्चर्य कि उन्हें फ़ैसला देते कभी नहीं सुना था, न इन दोनों में से कभी किसी फ़रीक़ को असन्तुष्ट या नाराज़ लौटते देखा था। वे माँ और पिताजी दोनों के राज़दार थे और दोनों के नौकर ।

उस दिन भी, आज वर्षों के अन्तराल के बाद, मैं सोचता हूँ - पिताजी ने ज़रूर मुंशीजी को भाई साहब की सारी घटना बता दी होगी। लेकिन मुंशीजी ने माँ के सामने बात को एकदम नए सिरे से शुरू किया था और बहुत देर तक उत्तर न मिलने के बावजूद हतोत्साहित नहीं हुए थे; बल्कि उन्होंने लगभग रोने की हद तक कोमल स्वरों में फिर पूछा था, “माँजी, मुझसे क्या कोई गुस्ताख़ी हुई है?"

“नहीं तो!” माँ उस आवाज़ से सहसा विचलित हो उठी थीं ।

"नहीं, आज माँजी नाराज़ ज़रूर हैं, वरना देर-सवेर मेरे सवाल का जवाब जरूर देतीं।” मुंशीजी ने यह बात बहुत डूबकर अपने आप से ही कही थी, जैसे नाटकों में स्वगत - संलाप कहे जाते हैं ।

इसके बाद माँ फ़ौरन खुल गई थीं, “क्या जवाब देती, मुंशीजी ? तुम्हीं बताओ, क्या ये कहती कि अपने कर्मों को रो रही हूँ?”

" ख़ुदा न करे।” मुंशीजी ने पिताजी को मूढ़े पर बैठते देख, अपने लिए भी छोटी-सी मूढ़ी उठाकर माँ के दरवाज़े के पास खिसका ली थी। फिर एक लम्बी साँस खींचकर बात का सिरा पकड़ते हुए बोले थे, “अल्लाह का दिया सब कुछ है- पैसा है, नाम है, इज़्ज़त है, शोहरत है। और क्या चाहिए इनसान को, माँजी ?”

“इनसान को इनसानियत भी चाहिए, मुंशीजी कि नहीं ?” माँ तड़ाक से सवाल किया था, जैसे वे फ़ौरन हिसाब-किताब साफ़ कर लेना चाहती हों ।

मुंशीजी क्षणभर के लिए हतप्रभ होकर अपने गिरेबान में झाँकने लगे। शायद उन्हें अपने ज़मींदार की अनपढ़ और घमंडी बीवी से ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी ।

बहुत देर बाद उन्होंने एक लम्बा हुंकारा भरा था और बोले थे, “क़ायदे की बात पर खामोश हो जाना पड़ता है। बहुत ऊँ बात कही है, माँजी, आपने । हज़रत ग़ालिब ने भी फ़रमाया है- 'आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसाँ होना ।"

आज मैं सोचता हूँ कि मुंशीजी की बात प्रकारान्तर से माँ की ही बात थी और किसी भी रूप में माँ की बात का उत्तर नहीं था। मगर माँ उनके उत्तर से बहुत सन्तुष्ट हुईं और उन्होंने तत्काल मुंशीजी को अन्दर भाई साहब के पलंग के पास बुला लिया था ।

" ज़रा देखिए तो," माँ ने धीरे से शायद भाई साहब की पीठ उघाड़कर दिखाई थी । और मुंशीजी बारम्बार 'तौबा अस्तग़फ़ार' कहते हुए कुछ देर बाद माँ के साथ बाहर निकल आए थे।

भाई साहब सो रहे थे । दर्दनाशक तेल की मालिश और हल्दी-दूध का प्रभाव था या माँ के स्नेह-रंजित स्पर्श का, पता नहीं !

माँ और पिताजी का मुक़दमा शुरू हो चुका था । पूर्वी चौक की कोनेवाली बैठक में सबने अपना-अपना स्थान ग्रहण कर लिया था । पिताजी अपना बयान दे चुके थे। बीच-बीच में जिरह भी हुई होगी। माँ ने और जज की हैसियत से शायद मुंशीजी ने भी कुछ सवाल पूछे होंगे। लेकिन उस वक्त मैं सो रहा था ।

मेरी आँख बन्दूक की गोली छूटने की आवाज़ सुनकर खुली थी। मैं एक स्वप्न देख रहा था- भाई साहब एक बहुत खूबसूरत छोटा-सा खरगोश मारकर लाए हैं। खरगोश आँगन में पड़ा है। मैं भाई साहब की बग़ल में खड़ा हुआ उसके नर्म रोएँदार शरीर पर हाथ फेर रहा हूँ । सहसा उसके शरीर में हरकत होती है । वह छटपटाने लगता है। भाई साहब उसे गोद में उठाकर दाईं करवट देकर लिटा देते हैं और पुचकारकर पूछते हैं, 'देखूँ बेटे, कहाँ गोली लगी है!' और वे उसके नर्म सफ़ेद बालों को सहलाते हुए उन्हें उलट उलटकर ज़ख़्म खोजने लगते हैं। अचानक अगली टाँगों की सीध में, दाएँ पुट्ठे पर खून का एक बड़ा-सा लाल धब्बा नज़र आता है। मैं और भाई साहब दोनों चौंक उठते हैं। छुअन की पीड़ा से तिलमिलाकर खरगोश गेंद की तरह गोद से उछलकर चौक में जा गिरता है और फिर छटपटाने लगता है । उसी वक़्त जाने कहाँ से पिताजी आते हैं । हम दोनों पर बिगड़ते हैं, 'तुम लोग खामखाह इसे तड़पा-तड़पाकर मार रहे हो ।' और आगे बिना कुछ कहे, वे अचानक पास रखी बन्दूक उठाते हैं । खरगोश पर निशाना साधकर गोली छोड़ते हैं- धाँय !

और मेरी आँख खुल जाती है ।

यद्यपि मैं समझ जाता हूँ कि गोली नहीं छूटी, बल्कि बाँडे की दीवाल - घड़ी ने साढ़े ग्यारह का घंटा बजाया है, तथापि काफ़ी देर तक मैं पसीने-पसीने रहा आता हूँ और आँगन में छटपटाता हुआ खरगोश मेरी चेतना में अटका रह जाता है ।

माँ अभियोग लगा रही थीं ।

"मेरी आँखों के सामने इन्होंने मार-मारकर लड़के को खाट पर बिछा दिया। उसकी जेब से निकालकर भरी हुई बोतल उसके सिर पर फेंक मारी... अगर लग जाती तो? अगर लड़के को कुछ हो जाता तो... ?" और इस 'तो' की आशंका से माँ का कंठ भारी हो आया था। मगर तत्काल ही संयत होते ही उन्होंने फिर अपना बयान शुरू कर दिया, "और ये सब किसलिए ? यह गुस्सा, यह ताव किस बात पर ? सिर्फ इसलिए कि लड़के ने शराब पी ली थी? अगर शराब इतनी बुरी है तो खुद क्यों पीते हो? क्यों अब तक भी तुम्हारी हविस नहीं भरी ? आज ही, अगर यह फ़साद न हो गया होता तो देखते...शाम से ही बोतल खुल गई होती। मैं जानती हूँ....हर बार यही होता है ... । जब बिजनौर से आएँगे, झोले में शराब की बोतल ज़रूर होगी। छोटे ने कई बार पूछा कि पिताजी अपना झोला क्यों नहीं देखने देते? अब बताओ, मैं उससे क्या जवाब दूँ और कब तक छिपाऊँ? अब वह बड़ा हो रहा है, उस पर क्या असर पड़ेगा?" माँ अपने बयानों में कभी पिताजी और कभी मुंशीजी और कभी दोनों को एक साथ सम्बोधित कर रही थीं। एक क्षण रुककर माँ ने फिर कहा, "खुद तो उचक्की करते हैं और लड़के से आशा करते हैं साधु बनने की !"

सहसा पिताजी गरम हो उठे थे। मुझे सुनाई नहीं दिया उन्होंने क्या कहा, लेकिन माँ के उत्तर से अनुमान लगा सकता हूँ कि पिताजी ने उनसे ममता का नाटक बन्द करने के लिए कहा था और शायद सौतेली माँ का सवाल उठाया था ।

लेकिन माँ भी उतनी ही गरम हो उठी थीं, "ज़बान बन्द कर राक्षस, वरना तेरा मुँह नोंच लूँगी । तू मेरी ममता को नाटक कहता है! मैं अपने बच्चों से मुहब्बत का नाटक करूँगी ? यह है तेरी शायरी, यही है तेरा शऊर, जिसकी दिन-रात दुहाई देता है? पतन के गर्त में तूने लड़के को ख़ुद धकेल दिया और तुझे शरम नहीं आई !"

पिताजी ने फिर दाँत किचकिचाकर कुछ कहा था जो मैं फिर नहीं सुन पाया। वे धीरे-धीरे बोल रहे थे ताकि और कोई न सुन सके। लेकिन माँ चारों ओर से बेखबर थीं। वे तड़पकर बोलीं, "तू.... तू... तू ! हाँ, तूने इसे शराब पीना सिखाया है। तूने इसे अपने हाथों से ढाल-ढाल कर भेजी है। बीसलपुर के सारे लोग गवाह हैं कि जब यह जवान भी नहीं हुआ था तो तूने इसे पास रखने के लिए गाँव में नटनियाँ बसाईं ।" एक लम्बी साँस खींचकर माँ ने फिर उसी आवेश से कहना शुरू किया, "और आज मुझे आँखें दिखाते हो! मैं इनसे नहीं डरूँगी। मैंने तुम्हारे नीचे

गिरने की इन्तिहा अपनी आँखों से देखी है । मैंने कोई मामूली ज़ुल्म सहा है जो तुम्हारे दाँतों की इस बन्दर किट किट से डर जाऊँगी ? मैं भूल सकती हूँ कि तुमने ही मुरली नट को बुलाकर कहा था कि वह अपनी लड़की के डोरे में चन्दन को फाँसे रखे। बोलो, मैं झूठ बोल रही हूँ-कह दो! तुम्हारी एक-एक हरकत मेरे सीने पर एक-एक गोली की तरह नक्श है। मैंने तुम्हें कितना समझाया... मैंने तुम्हारी कितनी खुशामद की... पर तुम्हें जायदाद चाहिए थी - ससुराल की जायदाद ! अब चाटो उस जायदाद को शहद लगाके !... हाय रे ! मुझे सौतेली कहते हो और तुममें सगे होकर भी ज़रा-सी ममता और दया नहीं।"

माँ बड़े भयंकर इलज़ाम लगा रही थीं। मुझे लगा कि शायद मुंशीजी चले गए होंगे, क्योंकि ऐसी बातें किसी के सामने नहीं की जा सकती थीं ।

बहुत देर तक ख़ामोशी छाई रही थी । कोई बोला नहीं था । लेकिन उसके बाद मुंशीजी की ही आवाज़ आई थी, " चौधरी साहब, आप खामखाह ग़मज़दा हो रहे हैं । आप तो यह सोचिए कि आपने जो कुछ किया, बाबूजी का बहबूदी के लिए ही किया है ।"

मुझे शक हुआ था, शायद पिताजी कुछ बड़बड़ाते हुए रोए हैं। दो-एक अपरिचित-सी हिचकियाँ भी सुनाई दी थीं। मुंशीजी की बात में इसकी पुष्टि भी हुई थी । लेकिन आज तक मैं इस विषय में निश्चित मत नहीं हूँ । हाँ, एक बात मेरी इस धारणा को बल देती आई है, और वह यह कि मुंशीजी ने माँ के बयान पर पहली बार खुलेआम पिताजी का पक्ष लिया था ।

इससे पहले भी अनेक अवसरों पर पिताजी और माँ की झड़पें हुई थीं। अनेक बार पिताजी ने कहा था, "तो मुंशीजी, आप जज रहे। ये मुद्दई रहीं और मैं मुद्दायला । हाँ जी, तो आ जाओ ज़रा मैदान में, और शुरू करो अपने बयान ।" ये मुक़दमे प्रायः रुपए-पैसे से सम्बन्धित होते थे और इनमें अक्सर माँ की जीत होती थी । मगर मुंशीजी ने आज न सिर्फ़ पिताजी का पक्ष लिया बल्कि उनकी आवाज़ में तटस्थता के स्थान पर एक गहरा लगाव और तीखा दर्द था, जो केवल आत्मीयता के स्तर पर ही पैदा हो सकता है।

माँ सहसा मुलायम पड़ गई थीं। मुंशीजी ख़ामोश हो गए थे । थोड़ी देर तक फिर चुप्पी छाई रही थी ।

उसी बीच जैसे मौक़ा देखकर बात गहरी हो उठी थी। पिछवाड़े के कुएँ से झींगुरों की आवाजें आने लगी थीं। रास्ते की पिलखन से उल्लू बोल उठा था । चमारों के मुहल्ले से कुत्तों के रोने और भौंकने की आवाज़ें शुरू हो गई थीं । सोए हुए घर का हर एक कोना सरगोशियाँ करने लगा था... और अचानक मेरे कमरे की लालटेन झड़ककर बुझ गई थी ।

सुबह उठते ही यादराम ने सब चीजें समेटनी शुरू कर दीं - तबले की जोड़ी, हारमोनियम, कारतूस भरने की मशीन, बन्दूक और कारतूसों की पेटी, कबूतरों के लिए रतीराम बढ़ई से बनवाए गए काबक के डिब्बे, बिस्तरबन्द, दो छोटी-छोटी डलिया और एक बड़ा-सा सूटकेस । मैं सोकर उठा तो आँगन में सारे सामान का ढेर देखकर समझ गया कि भाई साहब आज मुरादाबाद जा रहे हैं ।

मैंने माँ को आवाज़ लगाई, "माँ!" और कोई उत्तर न पाकर रसोईघर की तरफ़ चला गया। भाई साहब आसन पर बैठे हुए नाश्ता कर रहे थे । उन्होंने चिकन का नया कुरता और सफ़ेद ढीला पाजामा पहन रखा था। मगर उनके चेहरे पर थकान लिखी थी। उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा और बिना इस बात की परवाह किए कि उनके साफ़-बुर्राक कपड़े गन्दे हो जाएँगे, मुझे खींचकर अपनी गोद में बिठा लिया।

इस दुलार पर मैं अकारण रो पड़ा था। वे मुझे चुप कराने के लिए पुचकारने लगे, "मैं तो फिर आऊँगा, भैया ! बहुत जल्दी । और अब की बार तेरे लिए एक सचमुच की बन्दूक भिजवाऊँगा - चिड़िया मारनेवाली एयरगन ।"

शायद मैं उनके जाने पर उतना नहीं जितना पिटने पर दुखी था, या शायद उनसे इतने व्यवधान के बाद मिलने के कारण यूँही रुलाई आ गई थी। लेकिन बन्दूक की बात पर मैं फ़ौरन चुप हो गया। कई कारण थे । एक तो भाई साहब झूठा वादा नहीं करते थे। दूसरे, इससे पहले भी एक बार उन्होंने मुझसे कहा था, 'यार! थोड़े-बहुत

पैसे-वैसे जोड़ ले तो तेरे लिए एक एयरगन खरीद दूँगा । बहुत महँगी आती है ।' उस समय मैंने एयरगन की क़ीमत से लेकर उसकी मार तक - सारी बातें भी पूछ ली थीं। इसलिए अविश्वास का कोई कारण न था ।

“कब तक आ जाएगी?" मैंने संयत होते हुए पूछा था ।

"मुंशीजी तो आते ही रहते हैं । बस, जैसे ही मिली, उनके हाथ भेज दूँगा ।" भाई साहब ने उत्तर दिया ।

"नहीं, आप खुद लेकर आएँगे ।" मैंने शर्त रखी।

"अच्छा, मैं खुद ही ले आऊँगा।” उन्होंने तत्काल सहमति देकर बात ख़त्म कर दी थी ।

मेरे पास चुपचाप गोदी से उतरकर नाश्ता करने के अलावा कोई विकल्प नहीं रह गया था। मैंने माँ की तरफ़ देखा। हालाँकि चूल्हे की लकड़ियों से कोई ज़्यादा धुआँ नहीं उठ रहा था, मगर उनकी आँखें लाल थीं।

उसी समय यादराम ने आकर कहा था, “ ताँगा तैयार है।"

"अच्छा!” भाई साहब ने बुझे हुए स्वर में उत्तर दिया था, और मेरे गाल पर एक प्यार की चपत लगाते हुए खड़े हो लिए थे ।

माँ भी साथ ही उठ खड़ी हुई थीं । दुबारी के दरवाज़े पर पहुँचकर भाई साहब ने माँ को हाथ जोड़े थे और जाने क्या कहकर माँ के चरण छू लिए थे। ऐसा पहली बार हुआ था। मैंने कभी भी उन्हें माँ के चरण छूते नहीं देखा था ।

माँ ने खड़ा होते ही उन्हें सीने से लगा लिया था और धोती के पल्लू से आँखें पोंछती हुई अन्दर चली आई थीं। और मैं.... मूर्तिवत् आसन पर बैठा हुआ दरवाज़े की ओर ताके जा रहा था । माँ आकर फिर रसोई के काम-काज में लग गई थीं, मगर मैं हिसाब लगा रहा था कि अब ताँगा कमराज तालाब से निकलकर कुम्हारों के घरों के पास पहुँचा होगा और अब क़ब्रिस्तानों के पास । अगर आगे, छोटी नदी के क़रीब कोई तीतर या हिरन मिल गया तो भाई साहब शिकार ज़रूर करेंगे ।

उसी दिन मैंने माँ से पूछा था, "क्यों माँ, दरवाज़े पर खड़े होकर भाई साहब तुमसे क्या कह रहे थे ? "

माँ एक क्षण को मेरी ओर देखती रह गईं। शायद सोच रही थीं, बताएँ कि न बताएँ । लेकिन दूसरे क्षण वे किसी निश्चय पर पहुँचकर बोलीं, “कह रहा था, बीजी, अब मैं यहाँ कभी नहीं आऊँगा।”

"ऐसा कैसे हो सकता है?" मैंने घबराकर तेज़ी से कहा, “मुझसे तो उन्होंने वादा किया है कि जल्दी ही...” और मेरा वाक्य पूरा भी नहीं हुआ था कि भाई साहब सचमुच रसोईघर के बाहर दरवाज़े में आ खड़े हुए थे । उन्होंने शेरवानी और पहन ली थी । बाक़ी कुरता और पाजामा वही था। हाँ, माँग न निकालकर उन्होंने बाल पीछे को बहा रखे थे और इतने सुन्दर लग रहे थे कि मैं उन्हें देखता ही रह गया ।

" अरे चन्दन, तू!” माँ ने आश्चर्यचकित होते हुए पूछा था, " तू लौट आया ?”

“हाँ, बीजी, मैं दरअसल आपका यह सामान भूल गया था।"

और गत्ते का एक बड़ा-सा डिब्बा माँ के हाथ में पकड़ाते हुए, बड़े संकोच के साथ उन्होंने आगे कहा, “बीजी, मैंने सोचा, यहाँ तुम्हारे लिए धोतियाँ कौन खरीदेगा ? पिताजी को तो कुछ सूझ-बूझ है नहीं। इसलिए मुरादाबाद से चलते हुए मैं कुछ सस्ती - सी धोतियाँ लेता आया था ।"

फिर माँ को डाँटने का मौक़ा दिए बगैर मुझसे बोले थे, " तूने बीज से कुछ कहा तो नहीं था ? "

"नहीं ।"

मेरे बिना समझे-बूझे गरदन हिला देने पर उन्होंने आगे कहा था, "अच्छा, तो उठकर मेरे साथ आ । तेरी एयरगन पक्की ।"

और मैं बिना हाथ-मुँह धोए उनके साथ हो लिया था। माँ चुपचाप बैठी देखती रही थीं।

उस बार भाई साहब तो चले गए थे, मगर अनेक प्रश्न मेरे मन में जाग उठे थे। ये प्रश्न कुछ तो रात को माँ और पिताजी के झगड़े से, कुछ उस दिन भाई साहब को गाँव से बाहर तक विदा कर लौटते में लोगों की बातचीत से, और कुछ आए-दिन घटती रहनेवाली घटनाओं से मेरे हाथ लगे थे ।

जैसे उस दिन, रात को आठ बजे के क़रीब कल्यान चाचा ओख़्खो भाई साहब की खाट के पाए में रस्सी बाँधकर हमारी बैठक की छत पर जा चढ़े थे ।

पिताजी उस दिन मुरादाबाद गए हुए थे और ओख़्खो भाई साहब यानी भाई देवीसहायजी हस्बमामूल अफ़ीम का अंटा चढ़ाकर और मलाई खाकर हमारी बैठक के पीछेवाले घेर में आ पड़े थे। रात में यों भी उन्हें ज़रा कम दिखाई देता था । फिर अफ़ीम चढ़ा लेने के बाद तो और भी कम !

पूर्व-नियोजित योजना के अनुसार, उनके लेटते ही, पहले इन्दल ने उनके जूते उड़ा दिए थे। उसके बाद कल्यान चाचा ने धीरे-धीरे रस्सी खींचनी शुरू की थी । ओख़्खो भाई साहब पहले कुछ बड़बड़ाए थे। मगर तभी रस्सी ढीली कर दी गई और ज़मीन से उठा हुआ खाट का पाया ज़मीन पर आ लगा था ।

मुझे इस खेल में बड़ा मज़ा आ रहा था। बार-बार ओख़्खो भाई साहब की खाट का पाया ज़मीन से उठता, खाट टेढ़ी होती, वे गिरने - गिरने को होते कि खाट फिर सीधी हो जाती ।

बहुत देर तक तो ओख़्खो भाई साहब शायद इस खेल को अपनी अफ़ीम का चमत्कार मानते रहे; पर जब खेल रुकने में ही नहीं आया तो वे सहसा खाट से उठ खड़े हुए और अपने जूते टटोलने लगे। बस, यहीं सारा खेल ख़त्म हो गया, क्योंकि जूतों के बजाय पाए में बँधी रस्सी उनके हाथ में आ गई थी। उन्होंने बड़बड़ाना शुरू कर दिया था, “ओख़्खोजी ओख़्खो, मैं समझ गया हूँ। ओख़्खोजी चन्दन, ये मज़ाक अच्छी नहीं है। तुम जब भी आ हो, ऐसी ही हरकत करते हो । ओख़्खोजी ये कोई बात है ! भगवान की दुआ से तुम्हारे पास इतनी जायदाद है, दौलत है, मुरादाबाद शहर में इतना आलीशान मकान है... फिर भी ओख़्खोजी मेरे जूतों के बिना तुम्हारा पेट नहीं भरता ।... और कल्यान के बच्चे, तू भी है! ओख़्खोजी तुझे तो मैं कल देख लूँगा । जब देखो, मुझसे ही मज़ाक करता है। अबे तेरे बाप की उमर का हूँ - ओख़्खोजी कोई कम नहीं हूँ।”

उस दिन मुझे पहली बार मालूम हुआ था कि भाई साहब के पास आलीशान मकान, दौलत और बहुत-से नौकर-चाकर भी हैं! मगर ऐसा क्यों है - यह मेरी समझ में नहीं आ रहा था । और यही सोचने में मुझे इतना भी ध्यान नहीं था कि दूसरी तरफ़ से ओख़्खो भाई साहब का पोता आ रहा है । इसीलिए इन्दल ने ओख़्खो भाई साहब के जूते उनकी खाट की ओर फेंक दिये हैं और कल्यान चाचा रस्सी वहीं छोड़कर खिसक लिए हैं।

मगर ओख़्खो भाई साहब ने भी मेरी जानकारी में इजाफा करके एक सवाल ही खड़ा किया था, जवाब नहीं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कल्यान चाचा ने यह बताकर मुझे उलझा दिया था कि मुंशीजी अब चन्दन भाई के नौकर हैं। मैं इन बातों में एकदम खो जाता था। मेरी समझ में नहीं आता था कि लोग हममें ही यह अलगाव क्यों मानते हैं? क्यों उनकी हर चीज़ तो उनके बाप की भी है और क्यों भाई साहब की कोई चीज़ मेरी या पिताजी की नहीं है?

बहुत दिनों तक ये और इनसे सम्बद्ध अनेक सवाल इकट्ठे होकर मुझे परेशान करते रहे और मैंने जितना ही इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की, उतनी ही यह उलझती गई थी।

मैंने इसके समाधान के लिए बीसलपुर तक नज़र दौड़ाई । मगर इसके विपरीत नए-नए प्रश्न पैदा होते गए।

.. बीसलपुर ज़िला मुरादाबाद की सम्भल तहसील का एक बहुत बड़ा गाँव था, जो हमारी ज़मींदारी में समझा जाता था । वहाँ हमारी बहुत लम्बी-चौड़ी काश्त थी और बड़ी अच्छी पैदावार होती थी । हर साल गर्मियों में हम वहाँ जाया करते थे। हमारा मकान, जिसे हम डेरा कहा करते थे, चार-पाँच बीघा ज़मीन में बना था और दो बराबर - बराबर हिस्सों में बँटा हुआ था। पिछले हिस्से में जनानखाना था और अगले में बैठक और मवेशीखाना, जिसे हम अब भी घेर कहते हैं । हर साल हमारे जाने पर, पिछला हिस्सा अनाज और कपास के ढेर से भर जाता और दो-तीन महीने में उसे बेचकर या कोठों में भरवाकर हम लोग अपने गाँव राजपुर वापस चले आते थे ।

राजपुर हमारा घर था - पुश्तैनी घर । मगर यह बात मेरी समझ में नहीं आती थी कि भाई साहब अपने घर न रहकर मुरादाबाद क्यों रहते हैं और क्यों माँ या पिताजी जब बीसलपुर जाते हैं तो मुरादाबाद में भाई साहब से मिलने नहीं जाते ?

भाई साहब की चर्चा बीसलपुर में भी होती थी; बल्कि यहाँ उनके ज़्यादा क़िस्से सुनने में आते थे। अलबत्ता वहाँ उन्हें बाबूजी नहीं, छोटे सरकार कहा जाता था और शिकार से अधिक उनके शराब और नटनियों के क़िस्से सुनाई पड़ते थे, जिनमें मेरी क़तई दिलचस्पी नहीं थी ।

'सारा गाँव ही उनकी रिआया है।' लोग कहा करते थे और मुझे अच्छा लगता था ।

लेकिन एक दिन शंकरसिंह जब मेरी तरफ़ इशारा करके बोला, “और ये भी तो आपकी रिआया हैं,” तो मेरे तन-बदन में जैसे आग लग गई थी। मैंने शंकरसिंह को कोई बड़ी गन्दी गाली थी । शंकर ने भी कुछ कहा था, लेकिन नौकरों ने बीच-बचाव कर बात ख़त्म कर दी। मगर शंकरसिंह ने फिर भी ज़ोर देकर कहा था, "इसमें चिढ़ने की कौन-सी बात है? मैंने कोई ग़लत थोड़े ही कहा है? चौधरी साहब छोटे सरकार के काश्तकार ही तो हैं। काश्तकार तो काश्तकार - कोई छोटा काश्तकार, कोई बड़ा ।"

मुझे इस बात पर न जाने क्यों बहुत दुख हुआ था । भला बाप बेटे की रिआया कैसे हो सकता है? मैंने मन-ही-मन अपने उस दोस्त शंकरसिंह को बहुत गालियाँ दी थीं । कुट्टी भी कर ली थी। फिर भी मेरे मन में कहीं कुछ गड़-सा गया था। एक दिन माँ से मैंने यह बात पूछी भी थी, मगर उन्होंने उस पर ध्यान नहीं दिया था। हाँ, पिताजी ने इसका समझ में न आनेवाला एक जवाब ज़रूर दिया था, "बहजोई स्टेशन से बीसलपुर कितनी दूर है?" उन्होंने उत्तर देते हुए जैसे प्रसंगवश पूछा था ।

"तीन मील।”

“ रास्ते में कितने गाँव पड़ते हैं?” उन्होंने फिर पूछा था ।

" दो,” मेरा उत्तर था, “बाँहपुर और पीपली ।"

“शाब्बाश!” पिताजी ने तुरन्त बहुत दूर किसी चीज़ पर नज़रें गाड़ते हुए कहा था, “ अगली बार जब तुम बहजोई से चलोगे तो बीसलपुर तक अपनी जमींदारी में आओगे... इनकी माँ का... ये हरामज़ादे मुझे समझते क्या हैं ! "

और सचमुच कुछ महीनों बाद जब हम लोग किसी शादी में शामिल होने के लिए फिर बीसलपुर गए थे, तो बहजोई से निकलते ही जुहारों का ढेर लग गया था। मिलने-जुलनेवाले लोगों और काश्तकारों की बातों के कारण एक घंटे का रास्ता ढाई घंटे में तय हुआ था। पिताजी बड़े गर्व के साथ माँ को बाँहपुर और पीपली का रक़बा और भूगोल समझाते आए थे। बीसलपुर के नज़दीक आकर उन्होंने कहा था, "चलो,...इस काश्तकारी के कलंक से तो निजात मिली ! अब कम-से-कम भैनाजी चौधराहट नहीं हाँक सकेंगी। क्यों बेटे ?"

माँ से बात करते-करते सहसा वे मुझे सम्बोधित कर बैठे थे । और मैं, पिताजी की मस्ती और उनके चेहरे पर व्याप्त अतिरिक्त प्रसन्नता देखकर यूँ ही मुस्करा दिया था, जो उन्हें अच्छा लगता था। परन्तु वास्तव में भैनाजी का नाम सुनते ही मेरा ध्यान वहाँ से हटकर अपने हिसाब से एक बहुत पुरानी घटना में जा उलझा था, जिसका सम्बन्ध कहीं-न-कहीं भैनाजी से जुड़ता था ।

... हम बीसलपुर से लौट रहे थे। बीसलपुर से राजपुर आते हुए हमें मुरादाबाद के स्टेशन पर गाड़ी बदलनी थी। कई बार घंटों - घंटों प्लेटफार्म पर खड़े होकर इन्तज़ार भी करना पड़ता था । कई बार गाड़ी छूट जाने पर धर्मशाला या होटल में भी ठहरना पड़ता था और दो-एक बार ऐसा भी हुआ था कि वक़्त काटने के लिए हम लोग मुरादाबाद से लगे हुए मऊ नाम के गाँव में पिताजी के एक दोस्त के यहाँ जा टिके थे ।

हमेशा हम तीन यात्री हुआ करते थे- पिताजी, माँ और मैं ।

मैं बहुत छोटा था। लेकिन मुझे खूब याद है कि उस दिन शाम को साढ़े पाँच बजे के क़रीब हम लोग मुरादाबाद पहुँचे थे। राजपुर की तरफ़ जानेवाली गाड़ी छूट चुकी थी और पिताजी ने कुली से कहा था कि वह सामान सीधे धर्मशाला में ही ले चले, क्योंकि अगले दिन सुबह आठ बजे से पहले कोई दूसरी गाड़ी नहीं थी ।

कमरे में सामान बन्द कर हम लोगों ने बिस्तर खोल लिये थे और खाना खाकर लेटते हुए पिताजी ने एक सिगरेट सुलगा ली थी। माँ पानी के लोटे को खाट के नीचे छिपाकर रख रही थीं कि रात में कोई उठा न ले। तभी पिताजी उठकर बैठ गए थे और सिगरेट को ज़मीन पर मसलते हुए बोले थे, "कुछ कहो यार, जो मज़ा हुक्के में है, वह क़ीमती -से-क़ीमती सिगरेट में भी नहीं आता ।"

माँ पर उनकी बात की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई थी । लोटे को दोनों खाटों के पायों के बीच रखकर वे अपने तकिए पर नज़र गड़ाए हुए कुछ खोजने की कोशिश कर रही थीं ।

" क्या है?" पिताजी ने उन्हें इस प्रकार तल्लीन देखकर कहा था ।

"खटमल, और क्या !" माँ झुंझलाकर बोली थीं, "मैं तो पहले ही कहती थी कि यहाँ से तो प्लेटफार्म ही अच्छा रहेगा ।"

यह सरासर गलत बात थी । वह कमरा जिसमें हम ठहरे थे, धर्मशाला का सबसे अच्छा कमरा था। उसके सामने एक चबूतरा था जिस पर हम लोगों की खाटें बिछी थीं। कोने पर बिजली का खम्भा होने से रोशनी भी पड़ रही थी और सबसे बड़ी बात यह थी कि वहाँ से सामने की सड़क की चहल-पहल साफ़ नज़र आती थी ।

मुझे वह जगह पसन्द थी। रिक्शों की टुनटुन तथा ताँगा और मोटरों की भाग-दौड़ मेरे बाल-मन को सहज ही अपनी ओर आकर्षित करती थी। दूसरे, अपने साथियों के बीच मुझे यह रौब लेने का अवसर देती थी कि मैंने मुरादाबाद शहर देखा है ।

एक बात और भी थी । मेरी सारी निजी और अच्छी चीज़ों के साथ प्रायः एक वाक्य जुड़ा हुआ था, 'यह चन्दन मुरादाबाद से लाया था' या 'यह मुरादाबाद से आई थी।' अतः एक आत्मीय के नाते उस मुरादाबाद के और निकट से जान लेने के लिए मैं व्यग्र था । व्यग्र तो मैं भाई साहब से मिलने के लिए भी था, क्योंकि तब तक भाई साहब की कोई ठोस तस्वीर मेरे दिमाग़ में नहीं थी । बस, यही मालूम था कि वे मुरादाबाद में रहते हैं और एक धुंधली-सी स्मृति थी कि एक लम्बे-गोरे किशोर वय पार करते हुए युवक को मैंने पहले भी देखा है । वही मेरे भाई साहब हैं ।

यों स्टेशन पर जब भी मैं किसी खिलौने के लिए बिगड़ उठता तो माँ हमेशा यही कहा करतीं, "देख लो, लड़के की बात ! चन्दन ने इसके लिए खिलौनों का ढेर लगा दिया है, मगर इसका मन ही नहीं भरता।" फिर वे मुझे सम्बोधित करके कहतीं, "उसी से कहना, मेरे पास इन फ़ालतू चीज़ों के लिए पैसे नहीं हैं ।"

इस तरह अनुपस्थित व्यक्ति के रूप में भी चन्दन भाई साहब का अस्तित्व बचपन से ही मेरे लिए महत्वपूर्ण हो गया था। लेकिन बचपन की पहली स्मृति के रूप में मेरे सामने उनका उसी दिन का चित्र है, जब वे आकस्मिक रूप से उस धर्मशाला में आ गए थे ।

उस समय अच्छी न लगने के बावजूद पिताजी ने फिर सिगरेट सुलगाई थी और मुँह का धुआँ छोड़ते हुए माँ से कहा था, "याद है, शुरू-शुरू में धर्मशाला में मुझे कसम-धरम देकर तुम ही लाई थीं। मुझे तो यहाँ ठहरते ही बड़ी शरम आती थी। लगता था, सारा शहर जानता है। कोई देखेगा तो क्या कहेगा ? मगर अब आदत पड़ गई है तो कुछ नहीं लगता । सड़क से इतने लोग गुज़रते हैं, एक भी जाना-पहचाना चेहरा नज़र नहीं आता ।"

माँ ने हुंकारा ज़रूर दिया था, मगर उनका ध्यान पिताजी की बातों में नहीं था। एक क्षण को मुझे लगा कि शायद मेरी तरह उनका ध्यान भी सड़क की उस बग्घी पर अटक गया है जो आकर ठीक हमारे बिजली के खम्भे की सीध में खड़ी हो गई थी। कोचवान ने घोड़े को एक चाबुक मारा था और उसकी रास इतनी जोर से खींची थी कि घोड़ा अगले पाँव उठाकर वहीं सड़क पर खड़ा होने की कोशिश करने लगा था ।

सहसा पिताजी का ध्यान उधर गया तो वे माँ से बोले, “देखो जी, उधर देखो, बिल्कुल अपनी कलगी की तरह से है। वही रंग, वही वही हरकत। वही उसी तरह बाज़ार में चमकना और अगले पाँव उठाकर खड़े होने की कोशिश करना ! तुम्हें याद है, मैं उस दिन बाज़ार में गया था ... ।”

पिताजी ने एक रोचक कहानी सुनाने की भूमिका बाँधी थी, जिसमें बाज़ार में उनकी घोड़ी भड़क उठी थी । मैं बड़ी उत्सुकता से पिताजी की ओर करवट बदलकर लेट गया था । उस सड़कवाली बग्घी का तमाशा भी लगभग ख़त्म हो चुका था, क्योंकि कोचवान घोड़े को पीछे हटाना चाहता था और जैसे ही उसने अगले पाँव ऊपर उठाए, कोचवान ने रास खींचकर उसे थोड़ा पीछे हटा लिया था। अब वह बग्घी हमारे खम्भे की सीध से पीछे हट जाने के कारण पंजाबी होटल की ओट में आ गई थी ।

"याद है?" पिताजी ने फिर पूछा था ।

“पता नहीं। मैं बग्घी में कभी तुम्हारे साथ जाती तो याद भी रहता ।" माँ ने पिताजी का उत्साह ठंडा करते हुए कहा, "मैं तो उस हवेली की नरक में सड़ती रहती थी । आप ही ऐश करते घूमते थे। हाँ, घोड़ी का रंग..." माँ ने रंग देखने के लिए जो सड़क की ओर दृष्टि घुमाई तो देखा कि वह बग्घी सड़क से उतरकर धर्मशाला के फाटक की तरफ़ आ रही है ।

"चन्दन !" माँ ने कोचवान की ओर उल्लसित होकर निहारते हुए पूछा था, " तू कैसे ?”

“मैं लड़ने के लिए आया हूँ, बीजी!" कोचवान के रूप में सफ़ेद मलमल का कुरता पहने चन्दन भाई साहब ने बग्घी से नीचे उतरते हुए कहा था, “ और आज यह भी साफ़ हो जाएगा कि मेरा आप पर कितना अधिकार है । "

माँ थोड़ा-सा मुस्कराई थी। मगर उसी आवाज़ में बोली थीं, "अच्छा! तुझे अब तक अपना अधिकार मालूम नहीं ?”

पता नहीं, भाई साहब को अपना अधिकार मालूम था या नहीं, लेकिन उन्होंने माँ की बात का जवाब नहीं दिया था। पिताजी को नमस्ते करके वे एक क्षण के लिए चुप हो गए थे, किन्तु दूसरे ही क्षण पिताजी को मूँछों में मुस्कराते हुए देखकर वे फिर कहने लगे, "याद कीजिए, उस दिन आपने कहा था, 'चन्दन, चल, अब यहाँ नहीं रहेंगे। गाँव चलते हैं।' और मैं बिना चूँ-चपड़ किए आपके साथ हो लिया था । भेना ने अभी तक मुझे उस बात के लिए माफ़ नहीं किया है। लेकिन आज मैं यह देखने के लिए आया हूँ कि आप मेरा कितना कहना मानती हैं !”

“भैनाजी से पूछ लिया है?" माँ, जो बड़े आनन्दपूर्वक भाई साहब की बात सुन रही थीं, सहसा गम्भीर होकर बोलीं ।

मगर भाई साहब उसी भाव से कहते रहे थे, “उनसे क्या पूछना है ! घर आपका है। लड़का आपका है। फिर मुझे इतनी फुरसत कहाँ मिली? वह तो कहिए कि बाबू शौराजसिंह रास्ते में मिल गए। उन्होंने बताया कि आप धर्मशाला की तरफ़ गई हैं, वरना मुझे तो इस बार भी पता नहीं चलता ।”

मैं इन सारी बातों के दौरान खाट पर पड़े-पड़े इस कल्पना का आनन्द ले रहा था कि अब मैं बग्घी में बैठकर मुरादाबाद की सड़कों से गुज़रूँगा और वे सारे बाज़ार देखूँगा जहाँ इतने खूबसूरत खिलौने और दूसरी चीजें मिलती हैं।

मगर माँ ने दृढ़तापूर्वक उनके साथ जाने से इनकार कर दिया था। भाई साहब के कुछ और कहने से पूर्व ही उन्होंने कहा था, " तू नहीं समझता । वहाँ जाने से तमाम पिछली बातें उठेंगी। भैनाजी कुछ कहे बिना बाज़ नहीं आएँगी और मुझसे बर्दाश्त नहीं होगा । इसलिए मैं उस चक्कर में पड़ना नहीं चाहती।"

फिर बहुत बातें हुई थीं। पिताजी भी बातों में हिस्सा लेने लगे थे। शायद उन्होंने भी भाई साहब के तर्कों का समर्थन किया था। इस पर माँ झल्ला गई थीं। उन्होंने पिताजी को भी झिड़क दिया था, “तुम दुमुँही बातें मत किया करो। पता नहीं, तुम कौन-सा मुँह लेकर उन भैनाजी के सामने जाओगे, जिन्होंने तुम्हें निकालने के लिए सात दिन का निराहार व्रत रखा था !”

रह-रहकर अनेक बार भैनाजी का नाम बातचीत में आया था और पिताजी चुप हो गए थे। मगर भाई साहब फिर भी अड़े रहे थे। अब वे कम-से-कम माँ को बग्घी में बिठाकर शहर ही घुमाना चाहते थे, मगर माँ इसके लिए भी तैयार नहीं हुईं।

मुझे माँ की बेवकूफ़ी पर निरन्तर क्रोध आ रहा था। जब नहीं रहा गया तो मैं उठकर बैठा हो गया और बोला, “बग्घी में ज़रूर बैठना चाहिए। घोड़े से तुम्हारी लड़ाई थोड़े ही है।"

मेरी बात पर माँ सहित सब लोग खिलखिलाकर हँस पड़े थे । सिर्फ़ मैं गम्भीर बना बैठा रहा था और भाई साहब ने मुझसे पूछा था, " तू चलेगा मेरे साथ घूमने ? "

इसका उत्तर माँ ने दिया था, “हाँ, हाँ, इसे ले जा । इसकी बड़ी इच्छा है शहर घूमने की। आज स्टेशन पर कह भी रहा था कि भाई साहब होते तो मुझे...” और माँ वह बात कहते-कहते रुक गई थीं।

मुझे अच्छा भी लगा था और बुरा भी। अगर कह ही डालतीं तो भाई साहब को पता तो चल जाता कि मैं चाबी से चलनेवाली रेलगाड़ी चाहता हूँ ।

मगर भाई साहब को जाने उसका कैसे पता चल गया ! यही नहीं, बल्कि और कई ऐसी बातें जो मैंने माँ से भी नहीं कही थीं, जाने कैसे भाई साहब को मालूम हो गईं ! इसीलिए तो अपने साथ ले जाते हुए उन्होंने मुझे कोचवान की सीट के बराबर में बिठाकर घोड़ी की रास खुद ही मेरे हाथों में थमा दी और बोले, “अब तुम चलाओ।" फिर चाबुक भी मेरे हाथ में दे दिया और कहा, "मगर मारना मत। घोड़ी भड़क जाएगी।" और इसके बाद तो कमाल ही हो गया था। भाई साहब ने अपनी बग्घी सीधे खिलौनेवाले की दुकान पर ले जाकर रोकी थी और सबसे पहले उनकी नज़र उसी चाबीवाली रेलगाड़ी पर गई थी जिसे खरीदने के लिए मैं स्टेशन पर मचल गया था ।

रात को बहुत सारे खिलौने खरीदकर और बहुत-सी मिठाई लेकर जब मैं वापस आया तो देखा था कि भाई साहब के नौकर ने पिताजी के लिए हुक़्क़ा भर दिया है और वे आराम लेटे हुए हुक्का गुड़गुड़ा रहे हैं । मेरी एक बार इच्छा हुई कि उनसे पूछूँ-ये भैनाजी कौन हैं ? लेकिन मैं अपने खिलौने देखने और दिखाने में खो गया था और फिर मुझे नींद आ गई थी।

मगर इस घटना के संस्मरण में भी प्रश्नों के असंख्य बीज छिपे थे, निदान नहीं। मैं समाधान के लिए छटपटा रहा था और समस्याओं से जूझ रहा था ।

खंड : दो (आँगन में एक वृक्ष)
यह तो मुझे बाद में मालूम हुआ कि मुरादाबाद भाई साहब की ननिहाल एवं जन्मभूमि है और भैनाजी उनकी सगी मौसी है ।

जाने किसने यह क़िस्सा सुनाया था कि पिताजी का पहला विवाह मुरादाबाद के लखपति ज़मींदार और प्रसिद्ध वकील चौधरी रामप्रसाद की छोटी लड़की कनक से हुआ था। चूँकि वकील साहब के कोई लड़का नहीं था, इसलिए मोह कहिए या ज़िद उन्होंने अपनी लड़कियों के नाम लड़कों जैसे रखे थे या बाद में बना दिए थे । कनक का पूरा नाम था कनक कुँवर और बड़ी लड़की का अशर्फ़ी कुँवर । पढ़ाई को छोड़कर, वकील साहब ने दोनों लड़कियों की परवरिश लड़कों की तरह की थी और उनकी छोटी-से-छोटी इच्छा को पूरी करने के लिए भी बड़े-से-बड़ा ख़तरा मोल लिया था ।

उस ज़माने में नाकवालों के यहाँ क्वाँरी और जवान लड़कियों को घर में रखने की प्रथा नहीं थी । लेकिन विवाह के तीसरे दिन ही बड़ी लड़की अशर्फ़ी कुँवर अपनी नौकरानी के साथ अकेली ससुराल से चली आई और फिर कभी वापस न जाने की घोषणा कर दी, तो वकील साहब की पेशानी पर चिन्ता की लकीरें नहीं उभरीं। उन्होंने बहुत सहज भाव से इस स्थिति को स्वीकार कर लिया था ।

अशर्फ़ी कुँवर धार्मिक विधि-विधानों के साथ संयम और नियमपूर्वक रहने लगी थीं और घर की सारी व्यवस्था उन्होंने पूर्ववत् सँभाल ली थी ।

वकील साहब ने इससे एक ही सबक़ लिया कि छोटी लड़की कनक की शादी एक छोटे घर में की और लड़के को घर- दामाद बनाकर वहीं बुला लिया ।

मगर यह तो और लोगों का कहना था ।

पिताजी का कहना यह था कि बाबाजी की मृत्यु हो चुकी थी और घर की सारी जायदाद कर्ज़ में दबी थी, इसलिए वे कचहरियों की खाक छानने और मुक़दमों के दाँव-पेंच सीखने के लिए वहाँ चले गए थे। उनकी बात के समर्थन में ओख़्खो भाई साहब कहा करते थे, “ओख़्ख़ोजी क्या नाम था इस ख़ानदान का, और क्या रुतबा था कि रामप्रसाद जैसे वकील ने यहाँ आकर माथा टेका ! दादाजी के घुटने पकड़ लिए थे; मगर ओख़्ख़ोजी वो दिन कहाँ चले गए! "

ओख़्खो भाई साहब का सोचना यह था कि पिताजी की बड़ी बहन फूलदेई का विवाह इतनी धूमधाम से हुआ था कि आज तक उसकी चर्चा बिरादरी के गाँव-गाँव में होती है।

“ओख़्ख़ोजी,” वे कहा करते थे, “बरातियों की तादाद गाँव की आबादी से भी ज़्यादा थी । गाँव के कुओं का पानी ख़त्म हो गया था, मगर ओख़्ख़ोजी दादी का धीरज नहीं चुका था । वे मन्दिर में बैठी माला के मनके घुमाती रहती थीं और कहारों की क़तार, ओख़्ख़ोजी, पाँच कोस से गंगा का जल ढोती रहती थी। दादी ने सात दिन बारात रोकी थी और ओख़्ख़ोजी एक बाराती को भी शिकायत का मौका नहीं दिया था। जब सातवें दिन राय साहब ने आकर माफ़ी माँगी थी, ओख़्ख़ोजी तब कहीं दादी ने विदा की इजाज़त दी थी।"

मगर भिक्खन चमार इस शादी का और भी प्रामाणिक विवरण दिया करता था, " बप्पा ने बताया था कि रेलवे स्टेशन से गाँव तक बारात की क़तार बनी थी। आगे अठारह झूलदार हाथी थे। हर हाथी पर चाँदी का एक हौदा था और हर हौदे में एक कनस्तर शराब ! हाथी भी पिए हुए थे और सवार भी । उनके पीछे सोने-चाँदी और ज़री की झूल फरफराती हुई चौबीस घोड़ियाँ थीं। एक से एक नायाब - अरबी और कलावन्त ! उनके पीछे थे सौ रथ, सौ टपदार ताँगे और मुंडे ताँगों की तो कोई गिनती ही नहीं थी ।

" बप्पा के हाथ में बैलों की जोड़ियों, घोड़ियों और हाथियों के लिए रातिब निकलवाने और बाँटने का काम था- बहुत बड़ा काम ! चार आदमी बप्पा की मदद को थे । दादीजी ने भंडार की चाबी निकालकर बप्पा के हाथ में दे

दी थी और कहा था, 'अब तू जाने और मेरे शंकर' और भंडार की ओर माथा नवाकर चल दी थीं। बप्पा ने भंडार को देखा तो सनाका खा गए थे। सैकड़ों जोड़ियों का इत्ता-सा रातिब कैसे पूरा पड़ेगा ? मगर वाह री दादी, मुड़कर बोलीं, 'शंकर भगवान देंगे, उन्हीं की बिटिया का विवाह है।' और साहब, बप्पा ने बताया था कि एक पखवारे तक हाथियों और बैलों को मुँह छुट रातिब खिलाने के बाद भी जब दादी ने आकर देखा तो भंडार में रातिब उतने का उतना ही था ।

" जानते हैं, पैज लग गई थी। नहटौरवाले राय साहब अपने आपको बहुत बड़ा आदमी समझते थे। इधर हमारे चौधरी साहब के पिता रिश्ते की बात पक्की करके ही मर गए थे। माँ तो उनसे पहले ही चल बसी थीं। रह गई थी बुढ़िया दादी या लड़के के नाम पर तीन साल के बच्चे, हमारे ये चौधरी ! राय साहब ने दया दिखाई। पहले तो नाई - बाम्हन भेजे। फिर एक बार खुद आए और दादी से कहलवा भेजा, 'चौधरी नहीं रहे, तो मुझे ग़ैर न समझें। मैं भार नहीं बनना चाहता, मुझसे साफ़-साफ़ बता दें कि मैं कितने आदमी बारात में लाऊँ?'

" तुम रगुवा नाई से पूछना, उसका बाप ही ये खबर लेकर आया था और वही दादी का जवाब भी लाया था। राय साहब ने पूछा था, 'चौधरन ने कितने आदमियों को कहा?' और रगुवा के बाप ने दोनों हाथों में सँभाली हुई उल्टी टोपी राय साहब के सामने पेश कर दी थी। राय साहब ने झुककर देखा था, उसमें कोई पाव भर सरसों के दाने भरे थे, और मतलब साफ़ था ।

" राय साहब तिलमिलाकर चले गए थे, 'चौधरन को इतना गुमान ! देखा जाएगा।' और उसी के बाद - सुना है, उन्होंने बारात की तैयारी शुरू कर दी थी। जिले के सारे रईसों को नौत दिया था... यही पूछते रहते थे कि पाव भर सरसों में कितने दाने होते हैं! और साहब, ईश्वर झूठ न बुलाए, हाथी, बैल, घोड़े और आदमी - सबको मिलाकर कोई दस हज़ार पाँव इस गाँव में पड़े थे ।"

भिक्खन अन्तिम वाक्य के रूप में हमेशा एक ही बात कहा करता था, “बस, साहब, उसी शादी ने इस गाँव का और खानदान का नाम चमका दिया, वरना साहब, रामपरसाद वकील क्या अपनी लौंडिया की शादी इस गाँव में करने आता ?"

मैं इस कहानी पर विश्वास करने के लिए बार-बार माँ से इसकी पुष्टि करानेवाले सवाल पूछा करता था, “ये बात सच है, माँ ? वकील साहब ने क्या इसी कारण यहाँ शादी की थी?”

"कारण चाहे जो रहे हों," माँ ने एक दिन बताया था, "तेरे पिताजी वकील साहब के दामाद थे और किशोर अवस्था में ही घरजमाई के रूप में वहाँ रहने लगे थे। चन्दन का जन्म, शादी के चार साल बाद, वहीं हुआ था और उनके जन्म के साथ ही उसकी माँ अर्थात् तेरे पिताजी की पहली पत्नी स्वर्ग सिधार गई थीं । चन्दन का पालन-पोषण भैनाजी ने किया था । "

भैनाजी... भैनाजी... भैनाजी...! भाई साहब के सन्दर्भ में यह नाम इतनी बार आता था कि मैं उनके बारे में बहुत दिनों तक अपना कौतूहल और जिज्ञासा छिपाए नहीं रख सकता ।

आख़िर माँ ने ही एक दिन बताया था, “वकील साहब की बड़ी लड़की अशर्फ़ी कुँवर को ही घर में भैनाजी कहा जाता था । बाहर मुहल्ले में भी उनका यही नाम प्रचलित था । यहाँ तक कि अधिकतर लोग उनका असली नाम भूल गए थे। कोई नहीं जानता था कि उनका यह नाम कैसे पड़ा ?"

अब निश्चित था कि इसके बाद माँ बात को यहीं ख़त्म कर देंगी, पर तभी मंडावलीवाली भाभी आकर माँ के पाँव लगी थीं और हौले से मुस्कराकर उन्होंने टूटी हुई बात का छोर माँ के हाथों में थमा दिया था ।

माँ की मुखमुद्रा बदल गई थी। तनाव ढीला पड़ गया था । भाभी जैसा मूक और धैर्यवान श्रोता देखकर उन्होंने सामने रखा चरखा एक ओर खिसका दिया था और तीसरे पहर की ढलती हुई धूप पर एक उड़ती हुई-सी नज़र डालकर वे अतीत में डूब गई थीं। उनकी आँखों में कई भाव आ-जा रहे थे और जब उन्होंने बोलना शुरू किया तो ऐसा लग रहा था, जैसे वे उन बातों को सुना नहीं रहीं, बल्कि खुद भी सुन रही हैं।

माँ ने बताया था :

भैनाजी की ख्याति दो कारणों से थी- एक, बड़े बाप की बेटी होने के कारण और दूसरे, सनातन धर्म के कर्म-कांड में गहरी निष्ठा के कारण। आए-दिन दो-चार पंडित, पंडे या साधु-महात्मा वहाँ पड़े ही रहते थे और भैनाजी ने पूर्वी चौक में मन्दिर के ऊपरवाली कोठरी ऐसे ही धर्म-पुरुषों के लिए खाली रख छोड़ी थी ।

भी मकान बहुत बड़ा था। हवेली के ही तीन सहन थे । तिमंज़िली हवेली थी। हर सहन में एक कुआँ था । बैठक का कुआँ अलग था, जिससे बगीचे और मन्दिर का भी काम चल जाता था। बैठक के अलावा भी मेहमानों के ठहरने के लिए सदर फाटक के ऊपर कमरे बने हुए थे और सड़क के पार भी एक छोटा-सा मकान था। मकानों में जगह की कमी नहीं थी ।

मगर दिलों में जगह की कमी थी ।

शादी के अगले दिन नववधू के रूप में जब माँ ने उसी हवेली में प्रवेश किया तो वे ख़ुद वहाँ के वैभव और विशालता से अभिभूत हो उठी थीं। बस, एक बात कसकती रह गई थी कि औपचारिकता के नाते भी उनका स्वागत करनेवाली कोई नहीं थी। घर में भैनाजी का अखंड राज्य था और दूसरी कोई स्त्री ऐसी नहीं थी जो उनकी बात पूछी।

चन्दन भाई साहब तब छोटे ही थे ।

माँ उन्हें उस घर में आने से पहले ही अपनी शादी में देख चुकी थीं ज़री की अचकन, चूड़ीदार पाजामा और गोल सलमे - सितारे जड़ी टोपी पहने दो-ढाई वर्ष का बच्चा विवाह - मंडप में आया था ।

माँ ने सुन रखा था कि उनकी शादी एक दुहेजवे से हो रही है, जिसकी पहली पत्नी एक लड़के को जन्म देकर मर गई है और वे इस बात से बहुत दुखी थीं। मगर उन्होंने यह भी सुन रखा था कि वर देखने-भालने में बहुत अच्छा है और यद्यपि उसके माँ-बाप नहीं हैं किन्तु वकील साहब की सारी सम्पत्ति का मालिक वही होगा । इस बात का प्रमाण यह था कि माँ के पिताजी से रिश्ते की बात खुद वकील साहब ने की थी और उन्होंने ही शादी की सारी व्यवस्था कराई थी ।

माँ शादी की बात से दुखी भी थीं और आश्चर्यचकित भी कि वह कैसा ससुर है जो स्वयं दामाद का दूसरा विवाह रचा रहा है ! उसी समय किसी सहेली ने माँ से कहा था, "देख, वो हैं वकील साहब, बच्चे की उँगली पकड़े हुए।"

माँ ने किवाड़ों के झरोखों से देखा था कि वकील साहब ने नहीं, बल्कि एक बहुत ही खूबसूरत गुड्डे ने वकील साहब की उँगली पकड़ रखी है और अपनी अटपटी भाषा में वह दुनिया-भर की बातें बोलता जा रहा है।

"यह कौन है?" माँ ने पहली बार बच्चे की तरफ़ इशारा करके कुछ पूछा था।

“यही तो तेरा लड़का है ।" सहेली ने चुटकी ली थी ।

लेकिन माँ निहाल हो गई थीं। बिना कुछ कि-धरे किसी को इतना सुन्दर लड़का मिल जाए तो उसे क्या घाटा है— उन्होंने ऐसी ही कोई बात कही थी और उनकी सहेली ने फिर कहा था, “घाटा तो तुझे पति में भी नहीं । तू तो भाई, राज करेगी।"

सहेली कुछ और भी कहने को थी कि तभी वर पक्ष का पंडित चिल्लाया था, “लड़की को लाइए श्रीमान्, महूरत निकला जा रहा है ।" और माँ जल्दी से घूँघट खींचकर किवाड़ों से पीछे हटकर जा बैठी थीं ।

फेरों पर बहुत रात हो जाने के कारण भाई साहब दरी पर ही सो गए थे और उनकी टोपी सिर से ढलककर दूर जा पड़ी थी। माँ की इच्छा हो रही थी कि उस छोटे-से प्यारे बच्चे को उठाकर गोद में सुला लें लेकिन तभी भीड़ में से किसी ने कहा था, "जरा जल्दी कीजिए पंडितजी, बहू को नींद आ रही है ।"

और माँ चौंक उठी थीं। उन्हें वास्तव में नींद नहीं आ रही थी, बल्कि उनका ध्यान उस उपेक्षित बच्चे पर केन्द्रित हो गया था।

पर माँ की यह इच्छा कभी पूरी न हो सकी और उनका ध्यान ज़िन्दगी-भर बच्चे पर केन्द्रित ही रहा ।

चन्दन भाई साहब भैनाजी के इतने लाड़ले थे कि दूसरा कोई उन्हें प्यार करे या वे स्वयं किसी दूसरे को प्यार करें, यह भैनाजी पसन्द नहीं कर पाती थीं। माँ ने भूल और भावुकतावश एक बार भाई साहब को अपने पास बिठाकर खिला दिया था। बस, उसी दिन भैनाजी का कहर टूट पड़ा था। उसी दिन माँ ने उस घर में अपनी स्थिति का अनुमान लगा लिया था। शायद उस दिन पहली बार माँ को अपनी माँ की बहुत याद आई थी और उनका मन अपने गाँव के कच्चे मकानों और झोंपड़ों के लिए लहक उठा था। भैनाजी के भीतर माँ के लिए कितनी घृणा संचित है, यह बात भी उसी दिन खुली थी। भैनाजी का चेहरा ऐसा जड़ और भाव - शून्य था कि उस पर प्रतिक्रिया प्रकट ही नहीं होती थी । बोलती भी वे बहुत कम थीं । उस दिन भी उन्होंने केवल इतना ही कहा था, "आगे इसे हाथ मत लगाना । मैं बताए देती हूँ। मैं नहीं चाहती, इस पर ओछे लोगों की छाया पड़े।" इसके बाद उन्होंने भाई साहब को आड़े हाथों लिया था, " तू क्यों गया था सूखी रोटी खाने ? मरना चाहता है? ख़बरदार! फिर मत जाना ।”

उनकी आवाज़ में कोई सख़्ती नहीं थी । स्वर भी ऊँचा नहीं था। मगर उसमें इतनी ठंडक और ऐसी भयंकर जड़ता थी कि माँ का रोम-रोम काँप उठा था । एक ही सम पर, बिना आरोह या अवरोह के वे कहे जा रही थीं कि तभी भाई साहब ने प्रतिवाद किया था, “वाह! जहाँ मेरा मन होगा, जाऊँगा । जो मेरा मन होगा, खाऊँगा। मैं कोई बच्चा हूँ !”

लेकिन भैनाजी उन्हें दूसरे आँगन में खींच ले गई थीं। भाई साहब की आवाज़ अन्दर से आने लगी थी; परन्तु उसमें पहले जैसी दृढ़ता और हठ नहीं रह गया था। शायद भैनाजी ने कोई चवन्नी- अठन्नी या रुपया उनके हाथ में रख दिया था और बोली थीं, “तू नहीं समझता । वह डायन है। जिस दिन से आई है, तेरे नानाजी बीमार पड़े हैं। उनके पास मत जाना । तुझे जो कुछ खाना हो, मुझे से बता। मैं मँगाऊँगी।”

भैनाजी ने ये बातें इस ढंग से कही थीं कि माँ सुन लें और सावधान हो जाएँ ।

लेकिन माँ पहले ही वाक्य से पर्याप्त सावधान हो गई थीं । उन्होंने कलेजे पर पत्थर रखकर यह निश्चय कर लिया था कि वे चन्दन से अकारण बातें नहीं करेंगी। कुछ और भी निश्चय उन्होंने किए थे। मगर इस बात का उनके पास कोई उपाय नहीं था कि वे पिछले दो साल से लकवे के शिकार पड़े वकील साहब को उनके पाँवों पर खड़ा कर दें। यह सच था कि माँ के विवाह के थोड़े दिनों बाद ही उन्हें लकवे ने दबोच लिया था, लेकिन इसमें माँ को कहीं से भी अपना हाथ नज़र नहीं आता था ।

एक भाई साहब को छोड़कर पूरे घर पर भैनाजी हावी थीं । उनके मुँह पर छाई रहनेवाली गम्भीरता की छाप उनके सामने पड़नेवाली हर चीज़ पर उतर आती थी । जाने कैसे घर का वातावरण कुछ ऐसा हो गया था कि उनके सामने कोई कुछ बोल ही नहीं सकता था ।

हाँ, भाई साहब को शुरू से ही सारे आपवादिक अधिकार प्राप्त थे। वे जिस बेतकल्लुफ़ी से नानाजी की मूँछें खींच लिया करते थे, उसी बेतकल्लुफ़ी से भैनाजी के ठाकुरजी को उठाकर दरवाज़े में रख आते थे। परन्तु माँ को ये सब बातें तो बाद में मालूम हुईं। उन्हें तो यह समझने में ही पूरा एक वर्ष लग गया था वे कौन-सी चीज़ छुएँ और कौन - सी नहीं ।

भैनाजी पहले पीतल का कलश माँजकर स्वयं कुएँ से जल भरती थीं, फिर जल छिड़ककर लकड़ियों को पवित्र करती थीं और तब कहीं भाई साहब की, अपनी और ठाकुरजी की रसोई तैयार करती थीं।

नाश्ते के समय वे भाई साहब को आवाज़ लगातीं, “चन्दन, आ जा, नाश्ता कर ले।”

और भाई साहब हमेशा, 'मुझे पराँठे नहीं खाने' या 'मैं तो आज इमरती खाऊँगा' या 'मुझे भूख नहीं' कहकर टालने की कोशिश किया करते थे ।

"आ जा । पैसे दूँगी । एक पराँठे पर एक चवन्नी ।" भैनाजी उसी स्वर में प्रस्ताव रखा करतीं और भाई साहब चवन्नियों के लालच में कुछ खाते और कुछ जेबों में भरकर बाहर फेंक आया करते थे।

माँ को यह लाड़ पसन्द नहीं था, मगर यह उनके अधिकार- क्षेत्र से बाहर की बात थी। उसका काम था, अपने नौकरों और मेहमानों की रोटियाँ सेंकना और तीन नौकरों तथा दो नौकरानियों के बावजूद दोपहर के दो बजे तक चूल्हे पर बैठे रहना ।

चुनाँचे वे सबकुछ चुपचाप देखती और सुनती रहती थीं ।

कभी-कभी भाई साहब कहते, “भेना, कबूतर ।"

और भैनाजी तत्काल आदेश देतीं, “रामफल, शाम को कबूतर लेते आना रे ।"

और कबूतर आ जाते। सफ़ेद खरगोश भी आते। उनके लिए पिंजरे और काबुक भी आते। इमरती, बालूशाही और जलेबी भी आतीं और चाट के दोने भी ।

लेकिन माँ से बातें करते ही भैनाजी का यह वात्सल्य तिरोहित हो जाता था । कभी-कभी माँ किसी नौकर को सहायता के लिए रसोईघर में बुला लेतीं तो उनका पारा ऊपर चढ़ जाता, “यही रामकली तेरे आने से पहले अकेली सारे घर की रोटी बना लिया करती थी । कितने मेहमान आते थे तब ! और तुझसे इतना भी नहीं होता । मुझे तो अच्छा नहीं लगता कि रसोईघर भी नौकरों के अधिकार में दे दिया जाए ।"

बूढ़ी रामकली बैठी- बैठी भैनाजी की हाँ में हाँ मिलाती रहती थी और भैनाजी निरासक्त भाव से बातें कहकर चली जाती थीं । लेकिन उनकी अनुगूँज बड़ी भयंकर होती थी । धीरे-धीरे नौकरों को यह ज्ञात हो गया था कि बीबी जी अर्थात् माँ का काम करने से भैनाजी बुरा मानती हैं। इसलिए उन्होंने माँ की बात पर कान देना छोड़ दिया था ।

..........

पूरे चार साल तक पलंग पर पड़े रहने के बाद वकील साहब की मृत्यु हो गई थी - बड़ी लाचार और अपाहिज मृत्यु ।

मुरादाबाद से एक मशहूर हस्ती और कमिश्नरी से फ़ौजदारी का एक नामी वकील उठ गया था । अदालतों में शोक सभाएँ हुई थीं, और घर में सियापा छा गया था ।

“आज सारा शहर रो रहा है, तू भी रो ले, डायन ! अब तो खाने को खसम ही बचा है।" भैनाजी ने माँ से यह वाक्य आँसू बहाते हुए कहा था और फ़ौरन बगीचे की बैठक की तरफ़ चली गई थीं, जहाँ वकील साहब का शव रखा था ।

बगीचे में सैकड़ों लोग जमा हो गए थे। वकील साहब की विशेषताओं पर दबी ज़बान से बहस हो रही थी। ऐसे अवसरों पर, जैसाकि होता है, उनकी तारीफ़ों के पुल बाँधे जा रहे थे, और इस बारे में सब एकमत थे कि वकील

साहब ने केवल अपनी मेहनत और योग्यता के बल-बूते पर इतनी बड़ी सम्पत्ति अर्जित की थी । शायद यह बात बहुत कम लोगों को मालूम थी कि इस जायदाद की खरीद में रानी खैरागढ़ के उस ख़जाने का भी योग था, जिसे उन्होंने राजा साहब से छिपाकर अपने भाई को भेजने के लिए बतौर अमानत वकील साहब के पास रखवा दिया था और जिसके सन्दूकों से ज़ेवरात और रुपए-पैसे निकलवाकर वकील साहब ने उनमें ईंट-पत्थर भरवा दिये थे ।

माँ को ये बातें उस समय तक मालूम नहीं थीं । होतीं भी तो इनसे उनकी मृत्यु पर रोने- न रोने का कारण उपस्थित नहीं होता था। वे खुद वकील साहब की उदारता की प्रशंसक थीं और उनकी मृत्यु से सहसा स्तब्ध रह गई थीं ।

लेकिन भैनाजी की बातें सुनकर वे सचमुच फूट-फूटकर रो पड़ी थीं। हाँ, वकील साहब की मृत्यु के शोक से पीड़ित होकर नहीं, बल्कि अपमान की निरपराध यंत्रणा से छटपटाकर और समुचित उत्तर न दे पाने की विवशता से घुटकर ।

माँ को क्रोध शुरू से ही बहुत था, लेकिन वहाँ रहते वह कभी प्रकट नहीं हुआ। दीवारों में क़ैद पानी की तरह वह आँखों से रिसता और दीवारें पोली करता रहता था । माँ सोचा करती थीं कि वे इस घुटन भरे वातावरण में, जिसमें न पति का प्यार है, न घरवालों की ममता - बहुत दिनों तक कैसे जीवित रह सकेंगी? लेकिन वे कभी बीमार तक नहीं पड़ीं, और वकील साहब चल बसे थे ।

वकील साहब की मृत्यु के बाद घर का वातावरण और भी बोझिल हो गया था । भैनाजी की कठोरता और जापों की संख्या बढ़ गई थी। उनके पूजा-पाठ में ब्राह्मणों और महात्माओं का अधिक समावेश होने लगा था और दान-दक्षिणा का क्रम भी अधिक हो गया था। मगर माँ की स्थिति यथावत् थी ।

हाँ, पिताजी की स्थिति में थोड़ा परिवर्तन ज़रूर हुआ था । वे बगीचे से उठकर फाटक के ऊपरवाले कमरों में चले गए थे । वहाँ से उनके ठहाके और यार-दोस्तों की महफ़िल की आवाज़ें कभी-कभी कान में पड़ जाया करती थीं ।

माँ से उनकी भेंट अब भी चोरी-छिपे, कभी-कभार संयोग से ही होती थी। घर में वे अब भी बहुत कम आते थे। हाँ, लाला शान्तिस्वरूप कारिन्दे का घर में आना-जाना बढ़ गया था और मुक़दमों, लेन-देन की वसूलियों आदि के सम्बन्ध में भैनाजी की राय से सहमत होते हुए वह अक्सर यह कहने लगा था, "इस मामले में चौधरी साहब की राय दूसरी है । मैं उनसे मुत्तफ़िक़ नहीं हूँ ।"

“तुम जो ठीक समझो, वही करो।" भैनाजी कहा करती थीं और लाला शान्तिस्वरूप मूँछों में मुस्कराते हुए 'जो हुकुम' कहकर चले जाया करते थे ।

वह घर का एक संक्रमण काल था । स्थितियाँ बदल रही थीं । आदमी भी तेज़ी से बदल रहे थे और क़ीमतें सम्भावित युद्ध के कारण ऊपर उठ रही थीं। पिताजी दोस्तों में बैठकर कह दिया करते थे, “बताइए, जबकि मुल्क की हालत ये है, हमारी भैनाजी रोज़ाना सौ-पचास रुपया इन मोटे - मुस्टंडे ब्राह्मणों पर फूँक देती हैं ।"

पिताजी जाने किस भावना से ये बातें कहा करते थे, लेकिन भैनाजी को ये बातें मोड़-तोड़कर और नमक - मिर्च लगाकर सुनाई जाती थीं। "मेरे बाप का माल है। मैं धर्म के कामों पर खर्च करती हूँ तो मुझे शान्ति मिलती है, पर वह जो शराब और रंडियों पर सैकड़ों रुपए फूँकते हैं, वे कहाँ से आते हैं? वे भी मेरे ही बाप की कमाई के हैं!” भैनाजी माँ को सुनाने के लिए ज़ोर से बोला करती थीं और माँ चुपचाप सुन लिया करती थीं ।

चुगलखोरी उस घर में एक कला की तरह विकसित हो रही थी और नौकरों ने भैनाजी का विश्वासभाजन बनने के लिए इस कला को आत्मसात कर लिया था । तरह-तरह के धार्मिक पाखंड रचने के अलावा वे भैनाजी को बाहर की रिपोर्ट दिया करते थे कि कल रात फाटकवाले कमरे में कौन-सी रंडी आई थी, कितनी बोतलें खुली थीं और कौन-कौन लोग उस महफ़िल में शामिल हुए थे ।

काना रामफल इस फ़न में माहिर था। लाला शान्तिस्वरूप मौका मुहाल देखकर बातें करते थे। मालिन और रामकली चापलूसी करती नहीं थकती थीं, सिर्फ़ हरदेई, जो रामफल से सख़्त नाराज़ थी, इस चर्चा में दिलचस्पी नहीं लेती थी।

............

दरअसल उन्हें इस बात का अफ़सोस नहीं था कि रात बग्घी में बैठकर पिताजी कहाँ गए थे। उन्हें अफ़सोस इस बात का था कि भैनाजी इतनी हलकी बातें सुनने के लिए नौकरों को प्रोत्साहन क्यों देती हैं और क्यों, यदि ऐसी बातें सच भी हैं तो, वे चन्दन की उपस्थिति में ही कही सुनी जाती हैं! क्या उनके लिए 'इसके बाप' सम्बोधन प्रयुक्त कर भैनाजी चन्दन के सामने यह सिद्ध करना चाहती हैं कि देख, तेरा बाप कितना पतित और गया - गुजरा व्यक्ति है, जिसे शराब और रंडियों के अलावा और कोई बात ही नहीं सूझती ?

माँ जो सोच रही थीं, वही बात भैनाजी ने तड़ाक से कह दी, "अरी, तेरे क्या, करम तो इसके फूटे हैं।" फिर भाई साहब के सिर पर हाथ रखते हुए उन्होंने जोड़ा था, "सोचती हूँ, मैं न रही तो फिर इसे कोई रोटी भी नहीं देगा।"

मगर इतनी-सी बात वातावरण के लिए क़यामत बन गई थी। बूढ़ी रामकली, मालिन और रामफल- तीनों में सहानुभूति के प्रदर्शन की होड़ सी लग गई थी। यह अलग बात है कि उसमें विजयी हुए थे लाला शान्तिस्वरूप जिन्होंने भैनाजी की बात का केवल अन्तिम अंश ही आँगन में घुसने से पहले दरवाज़े में जूते उतारते हुए सुना था। वे वहीं से बोले थे, "हाय ! भैनाजी, आप ऐसी बातें क्यों करती हैं? बड़े बाबूजी जो कुछ छोड़ गए हैं, वह सब आप ही का तो है। आप ही के पैसे पर तो हमारे और इन सब के ठाठ चल रहे हैं।"

इसी बात को मालिन ने भी अपने ढंग से कहा था, "ऐ भौजी, तुम ऐसी भाषा क्यों बोलती हो? भला तुम्हें और चन्दन को किस बात की कमी है !"

भैनाजी ने सिर्फ लालाजी की बात का नोटिस लिया था और बड़े निर्विकार भाव से चन्दन भाई साहब की ओर इशारा करते हुए कहा था, "मुझे तो बस इसका ही ख़याल है। माँ सौतेली है। बाप शराबी और रंडीबाज है। सब उड़ा देगा। इसके लिए कौड़ी नहीं बचेगी।"

लाला शान्तिस्वरूप ने थोड़ी देर तक प्रतीक्षा की थी। भैनाजी की बात पूरी तरह वातावरण में घुल जाने दी थी। उसके बाद बड़े विनम्र और रहस्यात्मक स्वर में, 'भैनाजी, एक ज़रूरी बात है' कहकर वे उन्हें अपने कमरे की ओर लिवा ले गए थे, जिसके सामनेवाले बरामदे के थमलों पर हरदेई उस समय अल्पना का कार्य कर रही थी। भैनाजी वहीं बैठकर लालाजी के साथ मन्त्रणा किया करती थीं।

अगले दिन से भैनाजी का व्यवहार अचानक बदल गया था।

माँ ने सुबह देखा था कि हरदेई उनके हिस्से की भी झाड़ू लगा चुकी है। उनके बर्तन करीने से सजे हुए रसोईघर में रखे हैं और हरदेई उनकी सेवा में हाथ बाँधे खड़ी है।

"क्या बात है आज ?" माँ ने हरदेई की तरफ़ बड़ी आत्मीयतापूर्ण दृष्टि फेंककर पूछा था। बस, वही उस घर में एक ऐसी स्त्री थी जो माँ के प्रति थोड़ी सहानुभूति रखती थी और भैनाजी की नज़रें बचाकर उनसे दो बात कर लिया करती थी।

" है कोई राज़ की बात ज़रूर। कल वो मिठवा आया था।" हरदेई ने अपनी बड़ी-बड़ी काली पुतलियाँ मटकाते हुए लाला शान्तिस्वरूप कारिन्दे की ओर इशारा किया था, "कुछ वसीयत को लेकर बातें हो रही थीं। मिठवा बड़ा दुखी था। कह रहा था, अदालत में यह साबित करना मुश्किल है कि वसीयत लिखते समय उनके होशो हवास दुरुस्त नहीं थे। बस, एक ही तरीका है कि आप दोनों को अपनी मुट्ठी में रखें। बाहर न जाने दें।" हरदेई ने एक क्षण का विराम देते हुए विश्लेषण किया था, "मैं तो जानूँ, यह इशारा आप ही के लिए था।"

माँ जैसे एक भयंकर रेगिस्तान के बहुत लम्बे सफ़र से उकताकर कहीं अचानक दीख जानेवाली कीचड़ भरी बावड़ी पर ही मुग्ध हो गई थीं । कारिन्दा उन्हें देवदूत-सा लग रहा था और उनकी थकी हुई आँखें सलमे - सितारे जड़ने और चावल बीनने के उबाऊ और अन्तहीन कार्य से निष्कृति पाकर सपने देखने की कल्पना करने लगी थीं।

लेकिन अगले दिन हरदेई ने वह सपने भी छीन लिये थे बोली थी, “कुछ पता भी है, बीबीजी ! रात तुमने जो दवाई चौधरी साहब के खाने में मिलाकर दी थी, वह एक बड़े पहुँचे हुए महात्मा की भभूत है। काने रामफल ने लाकर दी है। अगर तीन दिन तक खा ली, तो समझो, उनका मन तुम्हारी तरफ़ से हमेशा-हमेशा के लिए फिर जाएगा।"

"ऐसा?" माँ से कुछ बोलते नहीं बना था । यह एकदम असम्भावित और अप्रत्याशित बात थी ।

माँ सकते में आ गई थीं। लेकिन गहराई में जाने पर थोड़ी देर बाद सारी बातें उनके सामने एक-एक कर साफ़ होने लगी थीं। सारे सन्दर्भ आप-से-आप जुड़ते चले गए थे। उनसे कहा गया था कि यह एक सिद्ध महात्मा की दी हुई भभूत है। इसके तीन दिन तक खाने से पिताजी का मन शराब और रंडियों की तरफ़ से फिर जाएगा। मगर माँ के मन में उसी समय कुछ खटका था।

इससे सम्बद्ध कई और भी प्रश्न माँ के मन में उठ खड़े हुए थे । भैनाजी रोज़ तीसरे पहर भाई साहब को और उन्हें अपने पास

.............

पिताजी सारी बातें सुनकर हँस पड़े थे। माँ को अपने पास बिठाते हुए बोले थे, “बस, इतनी-सी बात! अरे, बीवी से दिलवानी थी तो भभूत क्या, जहर दिलवाते। किसी को शक भी न होता और क़िस्सा ख़त्म हो जाता।"

माँ तब तक थोड़ी आश्वस्त होकर कमरे का निरीक्षण करने लगी थीं। फिर उन्होंने झुककर पलंग के नीचे भी झाँका था। कमरे में चारों तरफ़ नज़रें दौड़ाई थीं। शायद यह देख रही थीं कि कहीं उल्टियाँ तो नहीं पड़ी! लेकिन पिताजी का अन्तिम वाक्य, सुनकर वे चौंक पड़ी थीं, “क्या कह रहे हो?"

“मैं ठीक कह रहा हूँ,” पिताजी ने एक-एक शब्द पर जोर देते हुए कहा था, "वह कारिन्दा हरामज़ादा, चूँकि मेरे सामने गप्पें नहीं मार पाता, इसलिए भैनाजी के कान में मेरे विरुद्ध मन्त्र फूँकता रहता है। स्कीम इन लोगों की यह है कि मेरे खिलाफ़ गवाही देने और यह साबित करने के लिए कि मैं आवारा और बदचलन हूँ, अदालत में मेरे लड़के और मेरी बीवी को ही पेश किया जाए, इसीलिए आजकल तुम्हारी भी ख़ातिर हो रही है ! क्यों, ठीक है न?"

"बिलकुल ठीक।" माँ ने विस्मित होते हुए कहा और उन्हें यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ था कि पिताजी सारी बातों को पहले से ही जानते हैं। फिर भी हरदेई की सूचनाओं और अपने अनुभवों के आधार पर वे जितना कुछ जानती थीं, उन्होंने सब पिताजी को बता दिया था और साथ ही यह भी बताया था कि लाला शान्तिस्वरूप किस प्रकार वसीयत के बारे में ज़िक्र कर रहा था।

" सब मालूम है ।" पिताजी ने सर्वज्ञ की भाँति गरदन हिलाते हुए कहा था, "वह वसीयत ही तो इनकी जान को बबाल बनी हुई है। ससुर साहब मरहूम उस वसीयत में एक ऐसा कटोरी-पेंच डाल गए हैं कि भैनाजी बौखला उठी हैं और वह कारिन्दा अपना उल्लू सीधा करने के लिए उन्हें और बौखलाए दे रहा है।"

माँ कुछ समझी नहीं थीं, लेकिन उन्हें पिताजी का इस प्रकार आत्मीयता के साथ बातें करना अच्छा लग रहा था। चोरों की तरह लुक - छिपकर मिलते-जुलते उन्होंने वर्षों गुज़ार दिए थे। अब वे उस पीड़ा से हमेशा-हमेशा के लिए मुक्त हो जाना चाहती थीं । इसीलिए बहुत कुछ न समझते हुए भी वे बड़े ध्यान से पिताजी की बातें सुन रही थीं। पिताजी उन्हें वसीयत का वह अंश सुना रहे थे :

“... मेरी वफ़ात के बाद, मेरी कुलिया जायदाद, जिसमें ज़मीन के अलावा मुरादाबाद के सारे मकानात व बीसलपुर, इकरामपुर, हरेवली और दिनौड़ी के सारे बागान भी शामिल हैं, मन्दिर श्रीकृष्ण भगवान के नाम तावक़्त रहेगी जब तक कि मेरा नवासा अज़ीज़म चन्दन उर्फ चन्द्रनारायण बालिग नहीं होता । चन्दन की नाबालिग़ी के दौर में, मेरी दुख़्तर अशर्फ़ी कुँवर, चन्दन के वली की हैसियत से सारी जायदाद की देखभाल व इन्तज़ाम करेगी। लेकिन किन्हीं वजूहात से, अगर चन्दन उनके पास रहना पसन्द न करे तो इस जायदाद की देखभाल, वसूली व इन्तज़ाम वह शख़्स करेगा, जिसके पास कि चन्दन रहना पसन्द करे। मगर वह शख़्स, अशर्फ़ी कुँवर को, अपने गुज़ारे के लिए या तो तीन हज़ार रुपया सालाना या मकानात के किराए की कुल आमदनी, इनमें जो भी ज़्यादा हो, उसके ताहयात देता रहेगा ।

“अगर चन्दन उर्फ चन्द्रनारायण के कोई औलाद ज़कूर न हो...” यहाँ आकर पिताजी हँस पड़े थे। बोले थे, “ससुर साहब मरहूम ने यह वसीयत उन दिनों लिखी थी, जब वे लकवे के शिकार होकर पलँग पर पड़े थे। लिहाज़ा बड़ी फुरसत में थे । दूर तक की बातें सोचते थे । इसीलिए चन्दन की औलाद तक के लिए बन्दिशें तैयार कर गए हैं।"

माँ बड़े ध्यान से वसीयत सुन रही थीं, बोलीं, “आपको तो कुछ नहीं दिया?"

“चन्दन को दिया है यानी मुझे दिया है,” पिताजी ने ज़रा भी असन्तोष प्रकट किए बिना कहा था ।

......................

आप समझीं कि वह शख़्स मैं ही हूँ जिसके पास चन्दन रहना पसन्द करेगा। इसीलिए मोहतरमा भैनाजी, ससुर साहब के इन्तकाल के बाद से, इस नाचीज़ से ख़फ़ा हैं।...आया अकुल शरीफ़ में?"

पिताजी कभी - कभी बहुत क्लिष्ट उर्दू बोल जाते थे, लेकिन माँ बात के सन्दर्भ से उसका अर्थ निकाल ही लेती थीं। अब पूरी बात आईने की तरह उनके सामने साफ़ थी । भैनाजी का भाई साहब के प्रति लाड़ और अतिशय दुलार और उन्हें किसी दूसरे के पास जाने से रोकने आदि की घटनाएँ एक नया अर्थ ग्रहण करती जा रही थीं। पिताजी को सारी स्थिति समझाते हुए माँ को लगा था कि उन्होंने उन बातों को सही धरातल पर पकड़ लिया है।

तभी पिताजी बड़ी ज़ोर से ठहाका लगाकर हँसे थे, “तुम कहाँ हो, बेगम ! अब चन्दन नन्हा सा बच्चा नहीं रहा कि उसे सिनेमा के टिकट चाट के दोने या मिठाई देकर फुसला लिया जाए। मुझे तो पता चला है कि परसों लाला शान्तिस्वरूप उसे अल्लारक्ख़ी के यहाँ गाना सुनवाने ले गया था और रुपए भैनाजी ने दिये थे।"

माँ जैसे दो हज़ार गज़ की ऊँचाई से ज़मीन पर गिर पड़ी थीं। उन्हें सर्वथा अविश्वसनीय लगनेवाली बातों पर विश्वास करना पड़ रहा था।... वे भैनाजी, जिन्होंने अपनी सारी मान्यताओं के ऊपर चन्दन की परवरिश की थी, उनकी बीमारी में सात-सात दिन का निर्जल - निराहार व्रत रखा था, उसके स्वास्थ्य के लिए हज़ारों-लाखों जाप किए थे, एक टाँग पर खड़े रहकर तीन घंटे और पाँच घंटे की पूजा की थी - इतने नीचे गिर सकती हैं!

तभी पिताजी ने कहा था, "इसका मतलब यह नहीं है कि भैनाजी चन्दन को प्यार नहीं करतीं। हाँ, वे मुझसे नफरत ज़रूर करती हैं। क्योंकि वह कारिन्दा हरामजादा उन्हें यह समझाता रहता है कि अगर चन्दन कहीं अपने बाप के साथ गाँव चला गया तो चन्दन तो जाएगा ही, जायदाद भी चली जाएगी।"

पिताजी बिना लाग-लपेट के बहुत खुलकर बातें कर रहे थे, "देखो, कितनी अजीब बात है! मैं बाप हूँ, चन्दन का सगा बाप, लेकिन भैजी यह नहीं चाहतीं कि मेरा बेटा मुझसे मुहब्बत करे या मेरे पास रहे, जबकि मैं चाहता हूँ कि मेरे बेटे से सब मुहब्बत करें - भैनाजी भी और तुम भी ।"

“मैं?” माँ ने ऐसे चौंककर कहा था जैसे एकदम असम्भव शर्त उन पर लाद दी गई हो, “मुझे कौन उससे मुहब्बत करने देता है ?"

माँ का स्वर एक चिनगारी की तरह चमककर बुझ-सा गया था। मगर तभी पिताजी ने बात का सूत्र अपने हाथों में सँभालते हुए उनके कन्धे पर हाथ रख दिया था और बोले थे, "कोशिश में कशिश होती है। और मुझे मालूम है, तुममें एक कुदरती कशिश है। जानती हो, चन्दन तुमसे कितनी मुहब्बत करता है....?"

"नहीं," माँ ने आगे सुनने की उत्सुकता से चुपचाप गरदन हिला दी थी।

पिताजी बहुत धीमे और आह्लादपूर्ण स्वरों में बोले थे, "एक दिन मुझसे कह रहा था, 'पिताजी' मेरी तो कभी-कभी बहुत इच्छा होती है कि चलकर अपने गाँव में रहूँ और बीजी के हाथ की घी और नमक लगी रोटियाँ खाऊँ। "

पिताजी चुप होकर कुछ सोचने लगे थे। माँ की कल्पना में कई साल पुराना वह चित्र उभरकर आया था जब उन्होंने चन्दन को घी और नमक लगी रोटी खिलाई थी, साथ ही अकारण उनकी आँखें नम हो आई थीं और भैनाजी की फटकार के वे कड़वे - तीखे वाक्य अनायास उनके गले में आ फँसे थे ।

"क्यों, तुम्हें कोई दिक़्क़त तो नहीं होगी अगर हम यहाँ से गाँव चले जाएँ?" पिताजी ने बहुत देर बाद एक प्रश्न किया था।

"मुझे?" माँ ने रुक-रुककर एक-एक शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा था, "मेरे लिए इससे ज़्यादा ख़ुशी की बात और क्या हो सकती है कि मैं अपने ढंग से जीने का रास्ता खोज लूँ और मुझे इस कैद से मुक्ति मिल जाए। सुनो, अगर यह सम्भव है, तो अभी चल दो न !"

"ठीक है, तुम चन्दन से कह रखना । हम कल चलेंगे।" पिताजी ने एक निश्चय पर पहुँचते हुए कहा था ।

रात आधी से अधिक बीत चुकी थी। बातों में माँ को इस बात का ध्यान ही नहीं रहा था कि चोर दरवाज़े की खिड़की खुली पड़ी होगी और भैनाजी उनकी प्रतीक्षा कर रही होंगी। ध्यान आते ही वे तुरन्त अचकचाकर उठ खड़ी हुई और उठते-उठते बोलीं, "चन्दन चलेगा भी?"

"चलेगा क्यों नहीं?" पिताजी ने बड़े विश्वास से उत्तर दिया था। हालाँकि यह दुविधा और शंका खुद उनके मन में माँ से किसी क़दर कम नहीं थी ।

लेकिन अगले दिन जाना नहीं हो सका। माँ तो नहा-धोकर तैयार थीं। दो-चार काम लायक़ साड़ियाँ भी उन्होंने एक छोटे-से बक्से में डाल ली थीं, लेकिन वे भाई साहब से बातें करने का अवसर नहीं खोज पाई थीं। इसी बीच में वह कहर टूट पड़ा।

बाहर से पिताजी की क्रोधपूर्ण आवाज़ और गालियाँ आने लगीं, "सूअर के बच्चे, नीच कमीने! जिस थाली में खाता है, उसी थाली में छेद करता है! आज मैं तेरी बोटी-बोटी नोच लूँगा । तेरी ऐसी की तैसी, कुत्ते की औलाद ! तेरी यह मजाल कि तू मेरे लिए फ़कीरों से भभूत लाए ! साले, तेरी भभूत आज मैं झाड़ूंगा..."

और इसके बाद भभूत झाड़ने की आवाजें आने लगी थीं। पिताजी ने बेंत पटकना शुरू कर दिया था और रामफल की दिल दहला देनेवाली चीखें सारी हवेली में गूँज उठी थीं।

थोड़ी ही देर पहले भैनाजी ठाकुरजी को स्नान कराती हुई बड़बड़ा रही थीं, "राँड में न जाने कितनी आग है ! रात को रोज़ाना दरवाज़ा खुला छोड़ जाती है। कहीं चोरी-बोरी हो गई तो उसके बाप का क्या जाएगा?" मालिन पास में खड़ी हाँ में हाँ मिलाती जा रही थी कि भैनाजी ने उसे भी आड़े हाथों लिया था, "तुझे क्या पड़ी थी दरवाज़ा खोलने की ? ख़बरदार, जो आगे से कभी तूने ऐसा किया!"

रात माँ पिताजी के पास चली गई थीं उसी पर भैनाजी क्षुब्ध थीं। यद्यपि मालिन पर डाँट पड़ रही थी किन्तु माँ जानती थीं कि यह उन्हें सुनाने के लिए कहा जा रहा है। बहुत देर तक वे मन-ही-मन कुढ़ती हुई यह सोच रही

थीं कि मालिन भी बाल-विधवा है और रामकली भी - मैनाजी खुद इस श्रेणी में आती हैं, इसलिए हरदेई की वह बात ठीक ही है कि विधवाओं को सुहागिनों का सुहाग अखरता है। और फिर माँ सहसा इन बातों को ज़बरदस्ती दिमाग़ से निकाल फेंकने के लिए अपना सामान बक्से में रखने लगी थीं।

ठीक उसी समय पिताजी गरजे थे और रामफल चीखने-चिल्लाने लगा था।

हवेली के बाज़ूवाली आबचक साफ़ हो चुकी थी। लेकि आँगन की धुलाई जहाँ की तहाँ रुक गई। हवेली की औरतों का कलेजा मुँह को आने लगा और सारे नौकर काम छोड़कर दुबारी के दरवाज़े में खड़े होकर वही सब सुनने लगे ।

रामफल अपनी ग़लती स्वीकार कर रहा था । उसने पिताजी के पाँव पकड़ लिये थे और माफ़ी माँगते हुए बताया था, “सरकार ! मुझे भैनाजी ने हुक्म दिया था। उन्होंने ही रुपए दिए थे । उन्हीं के हुक्म से मैं उस फकीर के पास गया था, वरना सरकार, मेरा फकीरों से क्या वास्ता? मैं क्यों आपके लिए भभूत लेने जाता?"

"तेरी और फ़कीर की ऐसी की तैसी...!” पिताजी ने दाँत किचकिचाकर कहा था, “साले ! मैं उन हड्डियों का बना हुआ नहीं हूँ कि इन टुचियल फ़कीरों की भभूत खाकर मर जाऊँगा।" और इसके बाद फिर बेतों की आवाज़ और रामफल की कातर फ़रियाद गूँज उठी थी ।

" और बता...” पिताजी ने कड़ककर कहा था ।

“ बताता हूँ,” रामफल ने रोते हुए कहा था और उसके बाद धीरे-धीरे हवेली के भीतर चलनेवाले षड्यन्त्रों का पर्दाफ़ाश हो गया था। मालिन और बूढ़ी रामकली कपड़ों के बावजूद जैसे नंगी हो गई थीं और भैनाजी ठाकुरजी के सामने बैठकर ज़ोर-ज़ोर से गायत्री का जाप करने लगी थीं।

भाई साहब पिताजी के पास खड़े यह सारा तमाशा देख रहे थे और माँ भीतर रसोई के थमले से लगी बैठी थीं। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि यह ठीक हुआ या ग़लत कि तभी रामफल फिर बोला था, "मेरी क्या खता है, सरकार! मुझे तो मजबूर किया जाता था कि रोजाना आपकी बदनामी के झूठे किस्से गढ़कर चन्दन बाबू के सामने सुनाया करूँ। उसके लिए भैनाजी मुझे इनाम भी देती थीं।"

“भैनाजी क्या इनाम देंगी, मेरा इनाम भी तो देख !” कहकर पिताजी ने शायद कोई मोटी-सी चीज़ उठाकर उसकी ओर फेंक मारी थी। ‘धम' से कुछ गिरने की आवाज़ हुई थी और रामफल 'हाय, मरा!' कहकर चिल्लाया था, “अब ऐसा नहीं करूँगा, कभी नहीं करूँगा। कान पकड़ता हूँ, सरकार ! काली गऊ करके छोड़ दो।"

बस, इसके बाद आवाज़ें आनी बन्द हो गई थीं । दुबारी में खड़े नौकर अपने-अपने काम में लग गए थे। भाई साहब खुशी में उछलते हुए ऊपर से आए थे और एक कोने में दुबकी-सहमी बैठी मालिन और रामकली को देखकर बोले थे, “तुम लोगों का नम्बर अभी तो नहीं आया। तुम क्यों रो रही हो?"

फिर वे माँ के पास चले आए थे और बोले थे, “बीजी, तुम बड़ी खराब हो। तुमने पिताजी के खाने में भभूत मिलाई थी ?" उनकी बातों में इतना गहरा आश्चर्य था कि जैसे वे इस सारे घटनाक्रम पर विश्वास ही न कर पा रहे हों।

“मैंने क्या अपनी मर्ज़ी से मिलाई थी, बेटे ?” माँ ने आँखों में उमड़ आई आँसुओं की बाढ़ रोकने की असफल कोशिश करते हुए सफाई दी थी।

“हाँ-हाँ, वह सब मुझे मालूम है। साले रामफल ने चार बेंत पड़ते ही सब उगल दिया...लेकिन फिर भी सोचना तो चाहिए था

(यह रचना अभी अधूरी है)